श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

समाधितन्त्र प्रवचन

प्रथम भाग

—:०:—

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

...०००...

प्रकाशक —
जयन्तीप्रसाद जैन, रिटायर्ड हेड कैशियर, स्टेट बैंक
मंत्री, श्री वर्णी साहित्य मन्दिर,
सेवाकली, इटावा (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण] १०००   मार्च १९६६   [न्यौछावर १) ५०

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हू जो हैं भगवान , जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुप दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहू अभिराम ॥

—:०:—

समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

[प्रवक्ता — अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज]

येनात्माऽवुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

जिसके द्वारा आत्मा-आत्मा ही जाना गया है और आत्माको छोड़कर अन्य समस्त परद्रव्य और परभाव विभाव समस्त अनात्मतत्त्व पररूपसे ही जाना गया है उस अक्षय अनन्तबोध वाले आत्माके लिए नमस्कार हो।

ग्रन्थनाम व ग्रन्थके रचयिता— यह समाधितन्त्र नामका ग्रन्थ है, जिसमें समाधिभावके तंत्र बताए गए हैं। यह आत्मा आकुलतावों और विकल्पोंसे हटकर अपने आपके सम, सरल, स्वरसमें कैसे रसिक बने, ऐसा उपाय इस ग्रन्थमे बताया गया है। इस ग्रन्थके रचयिता हैं पूज्य श्री देवनन्दीजी जो पूज्यपाद स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हैं। पूज्यपाद स्वामीके ज्ञानसम्बधी कितनी योग्यता थी सो उनकी रचनावोंके अध्ययनमें जो आये वह ही समझ सकता है।

ग्रन्थरचयिताका एक व्याकरण ग्रन्थ— व्याकरण जैसा रूखा ग्रन्थ पूज्यपाद स्वामीने बनाया है जिसका नाम जिनेन्द्र व्याकरण है। अन्य व्याकरणोंसे इस व्याकरणका कोई मिलान करे तो उस ही एक विषयको ले लो, विद्वान् पुरुष विनम्र होकर उनके चरणोंमें नम जायेंगे। जिसके एक दो उदाहरण ले लो— व्याकरण शब्द सिद्धिका ग्रन्थ है और शब्दोंकी सिद्धिके अनेक नियम और सूत्र बताये जाने पर भी कोई न कोई बात शेष रह ही जाती है। उस शेष रही हुई बातको जबकि अन्य वैयाकरणजन व्याकरणके रचयिता उसे अपने नामसे लिखते हैं कि आचार्यकी ऐसी ही मर्जी थी, जबकि जैनेन्द्र व्याकरणमें ऐसी समस्यावोंका हल सिद्धिरनेकान्तात् अथवा लोकव्यवहारात् यों सीधा किया गया है। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदीके रचयिता पाणिनि और जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपाद स्वामी हैं। यद्यपि इनका सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न था तो भी ये कोई परस्पर में रिश्ते वाले थे, या मामा भानजेका ऐसा कुछ रिश्ता था। पूज्यपादने व्याकरण रचा, पाणिनिने भी व्याकरण रचा, लेकिन पाणिनि ऋषि थोड़ा रचकर मृत्युको प्राप्त हो गए। बादमें पूज्यपादाचार्यने उसकी पूर्ति की थी, ऐसा सुना गया है। उनका आप मिलान कर सकते हैं। जैनेन्द्र व्याकरणमें थोड़े शब्द हों और बहुत विशेषताको रखते हों, ऐसी रचना पूज्यपाद स्वामी

ने की थी। जहां पाणिनि महाराजने संज्ञावाचक एक-एक नाममें ४, ६ शब्द रखे थे वहां जैनेन्द्र व्याकरणमें पूज्यपाद स्वामीने एक-एक शब्द दिया है। कम बोलना, कम लिखना, इसमे बड़े पुरुष विभूति समझते हैं। व्यर्थके लोग ही बकवाद किया करते हैं, बहुत बोला करते हैं। उनकी रचनावोंमें जो सूत्र हैं उन सूत्रोंमें संधि भर कर देनेसे लाघव हो जाता है, इस बातकी दृष्टि भी जैनेन्द्र व्याकरणमे अधिक रखी गयी है।

रचयिताकी अन्य अनेक ग्रन्थोंकी कृति व योग्यता— पूज्यपाद स्वामीका रचित एक वैद्यक शास्त्र भी है। वीतराग ऋषि संतोंकी छटा देखो, जैनाचार्य द्वारा रचित उसका ढंग, उसका क्रम सब अपूर्व मिलेगा और साथ ही बड़ी विशेषता जैनाचार्योंकी यह रही कि उन्होंने जो कुछ कहना था, सीधा सरल शब्दोंमें बताया है। शब्दोंके आडम्बरमें उनकी रुचि नहीं थी। शब्दोंके आडम्बरके ज्ञाता तो बहुत ऊँचे रहे किन्तु प्रयोग नहीं किया करते थे। कैसे जानें कि उनका शब्दशास्त्र महान था? तो जैसे अनेक रचनाएँ करनेके बाद भी जो योग्य और शब्दशास्त्री होते हैं वे कोई छोटी रचनाएँ ऐसी भी कर देते हैं जिस में शब्दज्ञताकी महिमा प्रकट हो। पूज्यपाद समन्त भद्राचार्यका रचित एक जैन स्तोत्र है जिसमें किसी-किसी श्लोकमें त-च न-ऐसे दो अक्षरोंके सिवाय और कोई अक्षर नहीं। बड़े भारी श्लोक बना डाले। उनकी रचनाएँ कमलके आकार अन्य चित्रोंके आकार हैं। इतनी विद्वत्ता उनमें होते हुए भी दर्शनशास्त्र सिद्धान्तशास्त्रोंमें सरल शब्दोंका प्रयोग किया है। उनका लक्ष्य था जगतके जीव अपने हितकी बातको पहिचान लें। इतना ही तो प्रयोजन है शास्त्रोंका।

रचयिताका एक सैद्धान्तिक पारिभाषिक ग्रन्थ— सर्वसिद्धि नामका एक ग्रन्थ है। पंडितजनोंके द्वारा वह विदित ही है। सब परिभाषा और संक्षेपसे प्रयोजनकी बात कही जाना यह सब बड़ी ऊँची विद्वत्ताको प्रकट करती है। विद्वज्जन समझते ही हैं। उनकी रचनाएँ ऐसी बहुतसी हैं पर कोई जमाना था जबकि द्वेषवश आततायीजनोंके द्वारा वह साहित्य जला दिया गया और अब भी जो साहित्य बचा वह भी साहित्यमें अपना एक अलग स्थान रखता है। भले ही इस जैनधर्मके अनुयायी प्रायः करके व्यापारीजन हैं, उन्हें परवाह नहीं है कि क्या होना चाहिए, देशमें विदेश में कहा क्या है? नहीं है शिक्षा और साहित्यकी अभिरुचि इस कारणसे साहित्य शास्त्र बन्द पड़े हुए हैं, किन्तु कोई निष्पक्ष विद्वान् सर्वसाहित्यों को देखे तो यह कह सकता है कि जैन साहित्यके बिना संसारका साहित्य अधूरा है।

साहित्यसंग्राहिका रुचिका परिणाम— पूर्व समयमें यह परम्परा थी जैन समाजमें कि जगह-जगह साहित्यका अधिक संग्रह रखना। वहां यह बात तब नहीं निरखी जाती थी कि हमारे यहां इनका पढने वाला ही नहीं है, क्या करना है? इसकी अपेक्षा नहीं रखा करते थे पहिले, किन्तु जैसे मंदिरोंका शौक है इसी प्रकार शास्त्रोंके संग्रहकी इतनी अधिक अभिरुचि थी कि जगह-जगह शास्त्रोंके भण्डार रहा करते थे। अपने वश भर किसी शास्त्रकी कमी नहीं रखते थे। उसका ही फल आज यह है कि अनेक ग्रन्थ जला दिए जाने पर भी बहुतसे शास्त्र आज भी उपलब्ध हैं।

मंगलाचरणमें ज्ञान, मार्ग, भक्ति प्रकाश— पूज्यपाद स्वामी इस ग्रन्थके आरम्भमें यह मंगलाचरण कर रहे हैं। मंगलाचरण क्या है? इस मे अपना प्रयोजन, उद्देश्य, सिद्धिका उपाय सब कुछ भर दिया गया है। मंगलाचरणके शब्दोंमें दृष्टि तो दो। भक्ति, ज्ञान, मार्ग सबका इसमे समावेश है। जिस पुरुषके द्वारा यह आत्मा ही जाना गया है और अन्य पदार्थ अन्य रूपसे ही जाना गया उस अविनाशी अनन्त ज्ञान वाले सिद्ध आत्माको नमस्कार हो। इतने ही तो शब्द हैं। इसमे प्रथम पंक्तिमें यह बता दिया गया है कि आत्माको आत्मा ही जानना और परको पर जानना, यही मुक्त होनेका उपाय है। मोक्षका उपाय बता दिया— निजको निज पर को पर जान, फिर दु:खका नहिं लेश निदान। इसमें क्या है इसकी परिभाषा बहुत अन्तरमें ग्रहण करो। यह देह है, वह मैं आत्मा नहीं हूं, इस देहके अन्दर जो खटपट हो रही है वह मै आत्मा नहीं हूं। विकल्प, यहा वहां के ख्याल, राग, द्वेष, विरोध, मोह, काम, क्रोधादिक वे सब मै आत्मा नही हूं। मैं तो शाश्वत अहेतुक स्वरूपसत्ता मात्र चित्स्वभाव हू। इस स्वभाव को छोड़कर अन्य जितने भी तत्त्व हैं, पदार्थ हैं वे सब पररूपसे जान गए। ऐसा भेदविज्ञान होना वह मोक्षका मार्ग है।

मोक्षस्वरूप— भैया! मोक्ष है। किस स्वरूप? अविनाशी अनन्त ज्ञानरूप। यही मोक्षमार्ग है। मोक्ष नाम स्थान विशेषका नहीं है। भले ही मुक्त जीव लोकके अंतमें बस रहे हैं। इस कारण उसे मोक्ष स्थान कहा जाता है, पर मोक्ष स्थानमें पहुंचनेके कारण वह भगवान् हो या निराकुल हो यह बात नहीं है किन्तु अपने स्वरूपकी विशुद्धताके कारण वह भगवान् है और निराकुल है। जिस स्थान पर प्रभु रहता है उस ही स्थान पर अनन्त निगोद जीव रहते है। कोई-कोई तो यों कहते हैं कि वहांके निगोदसे वहांके निगोद कुछ तो सुखी होगे, उनके दु:खोंमें कुछ तो कमी होगी क्यों कि वे सिद्ध भगवान्के प्रदेशमें लोट रहे है। पर स्थानके कारण निराकुलता

और प्रभुता नहीं होती है। जैसे यहांके निगोद दु खी हैं उसही प्रकार वहां के निगोद दुःखी हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि यहांके निगोद जीव एक श्वास मे १८ बार जन्ममरण करते हैं तो शायद वहा ६ ही बार करते हों। वहां उनके क्लेशमें कुछ कमी हो ऐसा नहीं है। आत्माका क्लेश परिणमन आत्माकी योग्यता और उपाधिके अनुसार हुआ करता है।

मोक्षकी आत्मस्वरूपता— मोक्ष तो अविनाशी अनन्त ज्ञानस्वरूप है। अनन्तका अर्थ है असीम। अविनाशी असीम ज्ञानस्वरूप मोक्ष है। मोक्ष और मुक्ति कोई भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। मोक्षमें मुक्ति रहती है यह केवल औपचरिक कथन है। जीव स्वय मोक्ष है, स्वय मोक्षस्वरूप है और वह मोक्ष है अविनाशी असीम ज्ञानमात्रका प्रवर्तन चलना। ऐसा जो शुद्ध आत्मा है उस शुद्ध आत्माका इस मंगलाचरणमें नमस्कार है।

मोक्ष और संसारकी विरुद्धता— मोक्ष और संसार ये दोनों विरुद्ध अवस्थाएँ हैं। यह जीव अनादिकालसे मोहमदिरा पिये हुए अपने सत्य-स्वरूपको भूल रहा है। जब अपने सत्य सहजस्वरूपको भूल गया तो चूँकि आत्मामें ऐसी प्रकृति है कि किसी न किसी रूप अपनेको अनुभव करेगा ही। तो जब स्वय स्वयंके ध्यानमे नहीं रहा तो परपदार्थको आत्म-रूपसे अंगीकार करने लगा। अंगीकारका मतलब है अपने अगरूप बना लेना और स्वीकारका अर्थ है उसे पूर्णस्वरूप बना लेना। यों अनादिकाल से विपरीत अभिप्रायवश परपदार्थको अपना हितकारी मानता आया है और अपना उपकारी जो ज्ञान उपयोग है उसे अहितकारी मानता आया है। क्या करें, जैसे पित्त ज्वर वालेको मीठा भी भोजन उसे कड़ुवा लगता है क्योंकि उसकी जिह्वा इसही तरहकी योग्यता वाली हुई है। इसी प्रकार अज्ञान ज्वर वालेको, मोहज्वर वाले को ज्ञान और वैराग्य जैसा मधुर आहार कटुक लगता है।

जीवोंकी मूलभावना— भैया! यद्यपि संसारके समस्त जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं तथा जितने भी वे उपाय करते हैं वे सुख पानेके लिए और दुःख दूर करनेके लिए करते हैं, किन्तु वास्तविकताका पता न होने से वे अपने उद्यममें सफल नहीं होते हैं।

मर्म परिचय विना ज्ञानियोंकी नकलमें विडम्बना— ललितपुरके पासकी घटना है, गुरुजी सुनाते थे ४ बजाज ललितपुर कपड़ा लेनेके लिए चले घोडे लेकर। रास्तेमें अधेरा हुआ, रात हुई तो जगलमें ही ठहर गए। जाड़े के दिन थे, तो जाड़ा कैसे दूर करें इसके अर्थ उन पुरुषोंने उद्यम किया। उस उद्यमको पेड़पर बैठे हुए बदरोंने देख लिया। उन्होंने क्या

किया था कि खेतोंसे जरौंटा आदि बीनकर एक जगह जमा किया था और फिर माचिससे आग लगाकर खूब हाथ पैर पसार कर तापा था। इस तरह से अपना जाड़ा मिटाया था। यह सब उद्यम पेड़ पर चढ़े हुए बंदरोंने देख लिया। बजाज तो अब चले गए। दूसरी रात आयी, ठंढ बहुत थी। बंदरोंने सोचा कि हमारे ही जैसे हाथ पैर तो उनके भी थे जिन्होंने अपना जाड़ा मिटा लिया था। हम उनसे क्या कम हैं? बल्कि एक पूंछ ज्यादा ही तो है। सो ऐसा ही अपन काम करें जैसा उन्होंने किया था।

सब बंदर आसपासके खेतोंमें दौड़ गए और बाड़ी जरेटा आदि बीनकर इकट्ठा कर दिया। फिर वे आपसमें कहने लगे कि जाड़ा तो अभी मिटा ही नहीं। तो एक बदर बोला कि अभी इसमें लाल चीज तो पड़ी ही नहीं है। जाड़ा कैसे मिट जायेगा? उन आदमियोने तो कोई लाल-लाल चीज लाने के लिए सब तरफ दौड़े। वहां जुगुनू खूब उड़ रहीं थीं, सो उन्हें पकड़कर उन बाड़ियोंमें, जरेटोमे झोंक दिया। अब भी जाड़ा नहीं मिटा। फिर सलाह की कि वे इसमे फूँक रहे थे, अपन भी इसको फूँकें। वे सब बंदर उसको मुखसे फूँकने लगे। इतना करने पर भी जब जाड़ा न मिटा तो उनमेंसे एक बोला कि अरे सारे काम तो कर लिए पर अभी एक आखिरी काम तो बाकी ही है। वे हाथ पैर फैलाकर बैठे थे, अपन भी ऐसा ही करें। वे सब हाथ पैर फैलाकर बैठ गए, मगर क्या जाड़ा मिटा लिया? अरे जाड़ा मिटाने का जो साधन है आग उसका तो उन्हें ज्ञान ही न था। इसीसे सारे उद्यम करके भी वे जाड़ा नहीं मिटा सके।

सकलसकटमोचनी बूटी ज्ञानदृष्टि— रूच जानो भैया! अपने ज्ञान का स्वरूप अपने ज्ञानमे जिस समय आए उस समय इसके संकट नहीं रहते। उपेक्षारूप धर्ममें वह सामर्थ्य है। जरा करके ही देख लो। किसीसे राग बढ़ा था, पहिले दु:खी हो रहा था, कोई घटना ऐसी हो गयी कि सोच लिया कि जाने दो। जो कुछ हो सो हो, क्या मतलब? उपेक्षा की कि संकट उसके हल्के हो जाते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे आए। वहां परमउपेक्षा रहती है। उस स्थितिके आनन्दको कौन बता सकता है? उस ज्ञानस्वरूप के ज्ञान बिना शांतिके लिए अन्य समस्त भी यत्न कर डालें, धर्मके नाम पर ही सही, बड़ा तप, बड़ा व्रत, बड़ा भेद, बड़ी चीजें भी कर डालें पर शांति आनन्द और कर्मक्षयका साधन तो शरीरकी चेष्टा नहीं है किन्तु ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि बने यही है उन सब हितोंका साधन। वह ही एक छोड़ दिया जाये, उसको ही ताखमें धर दिया जाय और अनेक श्रम किए जायें तो उन श्रमोंसे सिद्धि नहीं होती है।

उन्मुखतामें समक्षगतकी निकटता— यह समाधितंत्र ग्रन्थ समता परिणाम उत्पन्न करने के लिए अद्भुत प्रयोग बतायेगा। जिसके मंगलाचरणमें इतनी छटा इतनी किरणोंका दर्शन हो गया है उस ग्रन्थके आगे जो वर्णन चलेगा वह तो एक अपने-अपने घरकी ऐसी बात कही जा रही है कि उसके अपनानेमें विलम्बन होना चाहिए। फिर भी नहीं अपना सकते। अपना नहीं सकते तो दृष्टि तो उस ओर होनी ही चाहिए। एक कहावत है—सांभर दूर समरिया नीरी। कोई समरियाका बनिया था, वह सांभर पर नमक लेने गया। वहां व्यापार करके जब लौटा तो समझो कोई, पांच सात सौ मीलका अन्तर था समरियामें और सांभरमें। लेकिन जिस समय सांभरनगरसे मुँह फेरा और समरियाको चला तो वह कहता है कि अब सांभर दूर समरिया नीरी। जिस ओर मुख है, जिस ओर दृष्टि है वह नीरा है। शायद इस जगत्में यह चर्चा चल रही होगी कि भिण्ड दूर इटावा नीरा। प्रयोजन यह है कि जहां को मुख किया, जहां को चले वह निकट माना जाता है, क्योंकि गतिका फल जो होगा उसको नैगमनय से, इस समय भी कह रहे हैं संसारसे यदि मुख मोड़ लिया और मुक्तिकी ओर मुख करके चल दिया तो चाहे वह अविरत सम्यक्त्व अवस्था भी हो तो भी उसका संसार दूर और मोक्ष नीरा है।

भावनमस्कार— ऐसा मोक्षका उपाय और मोक्षका वर्णन करते हुए आचार्यदेव उस विशुद्ध सिद्ध आत्मस्वरूपको नमस्कार कर रहे हैं। नमस्कार भी अनेक ढंगोंसे है। उन सब नमस्कारोंमें भाव नमस्कार सर्वोच्च नमस्कार है, अर्थात् हाथ भी न हिले सिर भी न हिले, बात भी न बोले किन्तु सिद्धस्वरूपका अपने आपके ज्ञानमें अनुभवात्मक परिणमन हो अथवा निज सिद्ध स्वरूपका अपनेमें ज्ञानानुभवरूप परिणमन हो वह सब नमस्कारोंमें प्रधान अभेदभाव नमस्कार है। उसकी दृष्टि रखते हुए नमस्कारात्मक विकल्प है तो वह मन, वचन, काय सम्बन्धी क्रिया करें वह द्रव्यनमस्कार है उन सिद्ध आत्माओंको नमस्कार हो।

जयंति यस्यावदतोऽपि भारतीविभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

सकलात्मदेव— यह समाधितन्त्रका दूसरा छंद है। पहिले छंदमें सिद्ध भगवान्को नमस्कार किया था और इस छंदमें अरहंत भगवान्को नमस्कार किया जा रहा है। उन शरीरसहित परमात्माको नमस्कार हो। शरीरसहित परमात्मा हैं अरहंत और शरीररहित परमात्मा हैं सिद्ध। तो देवमें दोनों आये— अरहंत भी देव हैं और सिद्ध भी देव हैं और गुरु

में आते हैं तीन, आचार्य, उपाध्याय और साधु। देव और गुरुका समुदाय परमेष्ठी कहलाता है। उन अरहंत प्रभुको नमस्कार है, जो बोलते नहीं हैं, पर उनकी दिव्यध्वनि बिना चाहे खिरती है। कैसी प्राकृतिक लीला है कि अरहंत भगवान् बोलते नहीं हैं, जानते अवश्य हैं। जैसे यहां कोई प्रश्न करता है तो जवाब दिया जाता है, ऐसा प्रश्नोत्तर भगवान् नहीं किया करते हैं। उनकी तो समयपर उनकी ओरसे दिव्यध्वनि खिरती रहती है। वहां प्रश्न करने वाला प्रश्न करता जाय, पर भगवान् प्रश्नकर्ताको नहीं देखते हैं और न भगवान् वहां जवाब देते हैं। ऐसा ही मेल है प्रकृतिका और भव्य जीवोंके भाग्यका कि समयपर उनकी दिव्यध्वनि खिर जाती है।

नियोग— जैसे यहां भी करीब-करीब ऐसी पद्धति है कि समयपर प्रवचन हो तो अच्छा चलता है और हो समयपर ही। कोई आये १२ बजे दोपहरको, और कहे कि महाराज थोड़ा प्रवचन करदो तो वह बात नहीं आती है और उनका तो अलौकिक, विलक्षण बहुत ही ऊँचा काम है। समय आया और दिव्यध्वनि झरने लगती है। उस दिव्यध्वनिका सब श्रोतावोंको ज्ञान हो ऐसा तो है नहीं। ध्वनिका ज्ञान गणधर देवोंको है, उनके इशारे वे गणधर देव ही समझते हैं। पर जैसे कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि बड़े पुरुषको देख लेवें तो बहुतसी शंकाएँ तो देखते ही दूर हो जाती हैं, और फिर अरहंतका जहा अविरल धारासे उपदेश चलता है, दिव्यध्वनिसे वह सुननेको भी मिले तो साक्षात् प्रभुके दर्शन और प्रभुकी दिव्यध्वनिका श्रवण जब दोनों बातें मिल गयी हैं तो उनकी शंकाओंका समाधान स्वयमेव हो जाता है।

भारतीविभूति— भगवान्की भारतीको विभूति बताया है। जगत् में संत पुरुषोंकी, अरहंत पुरुषोंकी जो वाणी है वह विभूति है। उसके सदृश और क्या विभूति होगी? एक साधारण नेताका व्याख्यान कराना होता है तो कितना बड़ा मण्डप सजाते हैं, कितना शृंगार करते हैं, कितना श्रम करते हैं, लोगोंको जुड़ाते हैं और वह बड़ा पुरुष आध घन्टा, पौन घंटा बोलकर चला जाता है। तो बतावो उनका आध घन्टा, पौन घन्टाका व्याख्यान यहां इतना मूल्य रखता है, इतना श्रम, शृंगार होता है, मण्डप बनता है, तो अरहंत भगवान्की जहां दिव्यध्वनि सुनना है, वहां की तो रचनाएँ मनुष्योंके वशकी ही नहीं हैं। वहां तो देव और इन्द्रोंके द्वारा उसकी रचनाएँ होती हैं। वह भारती भी बड़ी विभूति है तब तो उस उपदेशके लिए इतना श्रम, इतना व्यय लोग प्रसन्नतासे किया करते हैं।

पूर्वापर नमस्कार— इस प्रकरणमें न बोलते हुए भी जिस प्रभुकी

भारतीरूप विभूति बिना चाहे जयवंत प्रवर्तती है उस अरहंतदेवको नमस्कार किया गया है। पूर्व श्लोकमें अपने मूल प्रयोजनको ध्यानमें रखकर कहा गया है कि मैं इस शुद्ध आत्माको नमस्कार करता हूं। जिसने आत्मा को आत्मारूप जाना और परको पररूप जाना और इस जाननेके फलमें अविनाशी असीम ज्ञानानन्द भोग रहे हैं, ऐसे विशेषणों सहित सिद्धको नमस्कार किया गया था। ज्ञानवान् पुरुष विशेषण भी बोलता है तो अपने प्रयोजनकी सिद्धि माफिक बोलता है। जैसे यहां लौकिक पुरुष धनी पुरुष को यदि कुछ कहेगा तो ऐसा विशेषण लगाकर कहेगा जिससे कुछ अर्थ प्रयोजन सिद्ध होता है और त्यागीको कोई विशेषण बोलेगा तो ऐसे विशेषण बोलेगा जिससे धर्मपालनका प्रयोजन पूरा होता है। तो सिद्धका चूँकि वह आदर्शमात्र है, वे हमारे किसी काम नहीं आते, वे तो लोकके शिखरपर आनन्दरसलीन हुए अपना परिणमन करते हैं, तब उनको नमस्कार किया गया है उनका आदर्श बताकर और वे किस उपायसे ऐसे सिद्ध बने हैं उस उपायको विशेषित करके पुकारा था। यहां अरहंतदेवके वन्दनके प्रकरणमें नमस्कार करते हुए विशेषण दे रहे हैं कि जिसकी अलौकिक दिव्यध्वनि बिना चाहे, बिना बोले जयवंत प्रवर्तती है।

सुखार्थिताके पूरक अरहंत भगवान्— देखो सभी लोग सुख चाहते हैं। सुख मिलता है यथार्थ ज्ञानसे। यथार्थ ज्ञान होता है शास्त्रोंके अध्ययन से और शास्त्र आए हैं दिव्यध्वनिसे और दिव्यध्वनि आयी है अरहंत भगवान्से। इस कारण जिसे सुख चाहिए, जिनेन्द्रदेवके मार्गमें लगना है उसको अरहंत भगवान्का शरण लेना चाहिए। ऐसे ये अरहंतदेव शिवस्वरूप हैं, कल्याणमय हैं, आनन्दके निधान हैं और भव्य जीवोंको मोक्ष मार्गमें लगाते हैं इसलिए वे धाता हैं, ब्रह्मा हैं और उनका ज्ञान पूर्ण विशुद्ध समस्त लोकमें स्पष्ट झलकता है इस कारण वे सुखस्वरूप हैं।

अपनी चर्चा— यह चर्चा दूसरेकी नहीं है, खुदकी है और ऐसे उत्कृष्ट सत्यस्वरूपको भूल गए हैं इसलिए आज यह दुर्दशा है। अरे मनुष्य हुए तो क्या है? यदि मोह ममतामें ही रगे हैं तो पशुवत् हैं। यह सब चर्चा जहां भगवान्के स्वरूपकी की जा रही है। वहां यह ध्यानमें रखो कि यह हमारी चर्चा है, दूसरेकी नहीं है। जैसे कोई खोटी चर्चा किए जाय तो जितने खोटे आदमी बैठे हैं वे सब सोचेंगे कि यह हमारा लक्ष्य करके बोल रहे हैं। जैसे भाषणमें अगर परस्त्रीगमनके त्यागका उपदेश किया जा रहा है कि परस्त्री सेवन मत करो और उसका दोष दिखाया जा रहा है तो अगर १०, २० जितने परस्त्रीगामी बैठे हों वे सबके सब

यही सोचेंगे कि आज महाराजने देखो-हमारा लक्ष्य करके यह बात कही है, और कहो कोई महाराजको सताने पर भी उतारू हो जाय कि हमको क्यों ऐसा कहा है ? तो जब कोई अच्छी बात कही जा रही हो, अरहंत का, सिद्ध भगवान्का स्वरूप, उनके गुणोंकी बात कही जा रही हो तो भी हम सबको वह बात भी अपनेपर घटा लेनी चाहिए।

प्रभुकी शिवस्वरूपता— भैया ! खोटी बातें तो किसी किसीमें हैं और, यह स्वभाव वाली बात सबमें है। तो यह भगवान्की चर्चा है या हम आपकी खुदकी बात है कि ऐसे महान् हैं हम आप, और ऐसे सुख समुद्र हैं हम आप। ज्ञानघन हैं हम आप। दुःखोंका कुछ काम ही नहीं है। क्लेश अंश भी नहीं हैं, कृतार्थ हैं, शिवस्वरूप है, कुछ करनेको बाकी नहीं रहा। ऐसी अलौकिकताकी बात प्रभुकी गायी जा रही है तो समझो कि हमारी बात कही जा रही है। वह भगवान् शिव है, असीम अशुद्ध निर्मल ज्ञान आनन्दमय है। अरे ऐसे ही तो हम आप हैं। व्यर्थका मोह मचा रखा जिससे, कि इतनी बड़ी बातका खोज मिटा दिया। व्यर्थकी बातोंमें असली बात खो दी। बतावो इस ४०–५० वर्षकी जिन्दगीमें अब तक मोह किया पर आज हाथमे क्या है ? कौनसा लाभ रक्खा है कि जिससे कहा जाय कि हां हमने इतनी बात तो बढ़िया बना ली। जैसे धनसंचय करते हैं तो वहां यह दीखता है कि लो अब हो गए १२००) चलो अब और थोड़ा कर लेंगे, अब १६००) हो गए। तो जैसे वहां दीखता है कि हमने इतनी विभूति पा ली, तो मोह करके बतावो कि कितना क्या पा लिया ? तो व्यर्थके मोहमें इतनी बड़ी हानि कर रहे हैं, इसका ख्याल इस मोही जीव को नहीं होता।

प्रभुकी सुगमस्वरूपता— प्रभु सुगम है, उत्तम अवस्था वाला है, उत्कृष्ट उनका विकास है. ऐसा ही हम आपका स्वभाव है, उसका आदर नहीं करते तो भिखारी बने हुए हैं। न अपना ज्ञानघन खोना, तो भिखारी क्यों बना होता ? एक ही बात है। आशा किए जा रहे हैं, किसकी ? दूसरे हाड़ मांस चामकी, पर्यायकी। बतावो यह मोही जीव आत्मासे प्रेम करता है या शरीरसे, एक निर्णय तो बतावो। शरीरसे प्रेम करता हैं यदि मोही तो जब आत्मा चला जाता है फिर क्यों नहीं शरीरसे प्रेम करता। तो इससे ही सिद्ध हुआ कि शरीरसे तो प्रेम किया नहीं मोही ने और क्या आत्मासे प्रेम किया ? आत्माको तो जानता ही नहीं। और आत्मा तो सब एकस्वरूप हैं। तो किस आत्मासे प्रेम करे ? तो यह आत्मासे भी प्रेम नहीं करता। फिर क्या कर रहा है ? कुछ समझमें नहीं आता है।

न आत्मासे मोह करता, न शरीरसे मोह करता और कर रहा है मोह, बिगाड़ रहा है सर्वस्व कैसी एक बेमेल बात बन रही है ? फिर उसी-उसीके सब हामी बन रहे हैं। बुरा कौन कहेगा ? चोर-चोर ही जहां रहते हों वहां बुरा कहने वाला कौन है ? सभी चोर बैठे हैं। कौन बुरा कहे कि तू चोर है। सभी मोही बैठे हैं संसारमें, कौन किसको कहे कि तू व्यर्थका काम कर रहा है। न शरीरसे प्यार करता है न आत्मासे प्यार करता है और कुछ धुन कर ही रहा है। तो एक इस ज्ञानघन आत्मस्वरूपको भूल जाने से यह अपने आपको ऐसी दुर्दशावोंमें लिए जा रहा है।

प्रभुकी विष्णुरूपता एवं जिनरूपता— भगवान् अरहंतदेवकी चर्चा है जिनकी मूर्ति बनवायी जाय, जिसमें अरहंतकी स्थापना की है। अरहत भगवान्‌की चर्चा क्या है, वह है अपनी चर्चा। प्रभु विष्णु है, सर्वत्र व्यापक है। भगवान्‌का ज्ञान लोक-अलोक सबमें फैला हुआ है। प्रभुके ज्ञानमें कुछ भी बात अज्ञात नहीं है। ऐसे ये अरहंतदेव हैं और जिनस्वरूप हैं। रागादिक दोषोंको विषयकषायोंको जिसने जीत लिया उसे जिन कहते हैं। प्रभु अरहंतदेव जिन हैं, अभी उनके शरीर लगा है, पर भगवान हो गए हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य उनके प्रकट हो गया है, उन्हें सकलात्मा कहते हैं। जिसे कोई सद्‌गुण ब्रह्म कहते हैं। उनकी सदृशता कुछ मिलायी जा सकती है तो कहना चाहिये सगुण, साकार, सशरीर तो हुए अरहंत और निर्गुण, निराकार, अशरीर हुए सिद्ध।

नमस्कारकी पूर्वापरतामें प्रयोजन— यहां सर्वोत्कृष्ट अवस्था होनेके कारण प्रथम सिद्धको नमस्कार किया है और अब यहां अरहंतको नमस्कार किया जा रहा है। कहीं अरहंतको पहिले नमस्कार किया गया है, बादमें सिद्धको नमस्कार किया है। वहां दृष्टि है उपकारकी। अरहंतदेवके द्वारा यह मोक्षमार्ग चला, दिव्य उपदेश हुआ लोगोंको दर्शनका लाभ प्राप्त हुआ। इस कारण अरहंतदेव परमउपकारी है और इस नाते से अरहंतको पहिले स्मरण किया, फिर पीछे सिद्धको स्मरण किया और कोई पुरुष गुरुका ही स्मरण करले पहिले और पीछे अरहंत सिद्धका स्मरण करले तो वह भी सम्भव है, उल्टा नहीं है। यह तो भक्तिकी बात है। जिससे साक्षात् उपकार हो वह पहिले ध्यानमें आये। अरहंत और सिद्धका राज तो गुरुने बताया। जैसे लोग कहते हैं—'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय। बलिहारी वा गुरुकी जिन गोविन्द दियो बताय ॥' तो शुद्ध आशय हो तो कैसा ही कुछ कर लो, उसमें कोई अन्तर नहीं आता है। यहां पहिले सिद्ध

को नमस्कार किया है, उसके पश्चात् अरहंतदेवको नमस्कार किया जा रहा है।

प्रभुदेहकी परमौदारिकता— ये अरहंतदेव सशरीर हैं। अरहंतदेवका शरीर हम आपकी तरह क्षुधासे पीड़ित, जरा देरमें प्यास लग जाय, थक जाय, पसीना निकले, बदबू निकले ऐसा नहीं है। उनका भी शरीर ऐसा ही था जब अशुद्ध अवस्थामें थे। और जब उन्हें केवलज्ञान हुआ तो उस अलौकिक अतिशयके प्रसादसे उनका शरीर परमौदारिक हो गया। उनके क्षुधा, तृषा नहीं है। थोड़ी बात तो यहीं देख लो, प्रायः खूब खाने वाले, दो चार बार चाट पकौड़ा जो चाहे खूब खाये उनका शरीर और एक तपस्या करने वाले साधुजन कई दिन तक उपवास करते हैं, किसी दिन अल्प आहार ले लिया, उनका शरीर आपको प्रायः अच्छा मिलेगा। खूब खाने वाले लोग, कई बार खाने वाले लोग पसीनेसे लथपथ हो जाते हैं, बदबू आने लगती है, उनके मल मूत्रमें भी बदबू आती है, और उपवास करने वाले लोग कदाचित् अल्प आहार करलें तो उनके शरीरमें बदबू नहीं आती। और तो जाने दो, मलमूत्रमें भी वैसी बदबू नहीं रहती।

उत्तमदेहकी ऋद्धिसमृद्धता— जब आत्मानन्द जिनके अधिक रहता है और तपस्या भी बहुत चलती है उनके तो पसीना मल मूत्र, उनके वचन उनकी दृष्टि सब औषधिरूप बन जाते हैं। उनके शरीरसे स्पर्शकी हुई हवा जिस रोगीके लग जाय उसका रोग मिट जाता है। फिर बतावो अरहंत भगवान् जिसके चारों घातिया कर्ममल पाप दूर हो गए हैं, जिसने अपने ज्ञानसे द्रव्यगुण पर्याय सारे विश्वको जाना, तीन काल सम्बन्धी सब कुछ जाना और अनन्त दृष्टि है, जिसको अनन्त अनाकुलता अव्याबाध परम सुख है ऐसे अरहंत भगवानका शरीर परमौदारिक होता है इसमें क्या सन्देह है? ऐसे दिव्य तेजोमय परमौदारिक शरीरसे रहने वाले जो परमात्मा हैं उन्हें अरहंत भगवान् कहते हैं।

सकलनिकलपरमात्मस्वरूपता— देवताके विषयमें अरहंत सिद्ध देव जैसी यह जोड़ी सब जगह प्रसिद्ध है। कोई लोग कहते हैं अल्ला खुदा। यहां कहते हैं अरहंत और सिद्ध। कोई कहते हैं सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म। कोई कहते हैं साकार परमात्मा और निराकार परमात्मा। ये सब जोड़ियां यह सिद्ध करती हैं कि कोई परमात्मा होता है तो पहिले शरीर सहित है, पीछे शरीररहित हुआ तो वह दोनों विधिमें परमात्मा हुआ। यों ही मान लो कि अल्ला तो है अरहंतबोधक और खुदा है सिद्धबोधक। अर्थ कैसे निकला? अल्ला शब्द निकला है संस्कृतके अर्हः शब्दसे। अल

धातुसे बनता है अर्थः। जो अरहंत शब्दका वाचक है। और खुदा मायने खुद, जो खुद रह गया है, अकेला रह गया है वह हुआ खुदा। खुदासे सिद्ध का रूप समझलो। सगुण और निर्गुणमें अरहंत सिद्ध, साकार निराकार में अरहंत सिद्ध। तो यहां निराकार स्वरूपको पहिले श्लोकमें नमस्कार किया है और इसमें साकार स्वरूपको नमस्कार किया जा रहा है।

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्य सुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

रचनासंकल्प— इस ग्रन्थके रचयिता पूज्यपाद स्वामी यहां यह संकल्प कर रहे हैं कि शास्त्रसे, अनुमानसे और अपनी शक्तिके अनुसार जैसा अंतःकरणसे समाधान किया है उस निर्णयसे इस विविक्त आत्माको भली प्रकार देख करके कैवल्य सुखकी चाह करने वाले भव्य जीवोंके लिए इस शुद्ध आत्माको मैं कहूंगा।

भैया! ज्ञान करनेके तीन प्रकार हैं— शास्त्रसे ज्ञान करें, अनुमान से ज्ञान करें और अपने अनुभवसे ज्ञान करें। जैसे जितना ज्ञान विद्यार्थी लोग पाते हैं उसमे भी ये तीन बातें पायी जाती हैं। एक तो पुस्तकोंके आधारसे अमेरिका, रूस, जापान आदिका सारा परिज्ञान जो उन्हें अच्छी तरह है वह है नक्शोंके बलसे और पुस्तकोंके बलसे। कभी देखा नहीं है कि अमेरिका कहां है और चौथी कक्षा, छठी कक्षाके लड़के चर्चा करते हैं कि अमेरिका इस जगह है। इतनी आबादी है, ऐसे लोग हैं, पर क्या उन्होंने देखा है? पुस्तकोंके आधारसे, नक्शोंके आधारसे उन्हें यह ज्ञान होता है। यों ही धर्मका भी ज्ञान पुस्तकोंके आधारसे होता है। पहिले तो यह ही जानते हैं शास्त्रके द्वारा कि जीव है, यह कौन? शरीरसे निराला जीव है। लोकपरम्परामें तो अनेक लोग कहते हैं कि देहसे न्यारा है जीव यह तो छोटे-छोटे लोग भी कहते हैं। वह सब श्रुतका ही आधार है।

युक्तिविज्ञान वैभव— भैया! अब आगे देखिये— आगमसे जो भी अधिक विश्वासमें निर्णय करा देने वाली चीज है वह है युक्ति। एक तो शास्त्रमें लिखी बात है उससे जाना और उसही चीजको फिर युक्तिसे जाना, तो उसका ज्ञान और विशद हुआ कि नहीं? साफ हो गया। पहिले तो ऐसा ही समझते थे कि पुस्तकोंमें लिखा है इसलिए समझना चाहिए। पर कोई युक्ति ही मानों बैठ गयी तो अब युक्तिसे जो ज्ञान होता है वह ज्ञान और ज्यादा निर्मल हो गया। जब युक्तिके ज्ञानके बाद फिर अपना अनुभव भी कहने लगे कि बिल्कुल यही बात है तो ज्ञान और निर्मल होता है।

अनुभवज्ञान वैभव— भैया! ऐसा हो इस आत्माके बारेमें पहिले तो शास्त्र द्वारा ज्ञान हुआ। जो आचार्य इसके रचयिता हैं वे कह रहे हैं कि मुझे इस भिन्न आत्माका ज्ञान जो सहज ज्ञायकस्वरूप है वह सबसे भिन्न है, इसका ज्ञान शास्त्रसे हुआ है अर्थात् अनेक प्रकारके आगमोंके अभ्याससे इसमें आत्मतत्त्व सम्बंधी बात पायी है; और फिर इतना ही नहीं, चिन्होंसे भी हमने पहिचान ली कि यह भिन्न आत्मा चैतन्यस्वरूप है और आनन्दका निधान है, युक्तियोंसे भी जाना, और इतना ही नहीं, अनुभवसे भी पहिचाने। धर्म और धर्मकी वृत्तियां करके जब यह अनुभवमें आ गया कि पाप करनेसे दुःख होता, अज्ञानसे क्लेश होना, किसीने बुरा विचारा तो आत्माको क्लेश होता, जब अन्तरकी खोटी परिणतिसे क्लेश हुआ—इतना समझ लेते हैं और जब धर्म करते हैं, शुद्ध विचार रखते हैं तो वहां शांति नजर आती है। दूसरे जीव सुखी हों इस प्रकार जब सबके सुखी होनेकी भावना रखते हैं तो वहां आनन्द प्रकट होता है। तो ऐसे अनुभवसे भी इस आत्माकी बात पहिचानी गयी है।

आचार्यदेवकी करुणा— आचार्यदेवको यह कहनेकी जरूरत क्यों पड़ी कि हमने आगम भी सीखा है और युक्तियोंसे भी ज्ञान किया है और अनुभवसे भी पहिचाना है। यह कहनेकी आवश्यकता आचार्यदेवको इस लिए हुई कि वह ग्रन्थ लिख रहे हैं दूसरे जीवोंको। वे दूसरे जीव यह तो विश्वास करलें कि यह जो कुछ कहेंगे वह प्रामाणिक बात कहेंगे। तो श्रोतावोंके चित्तमें यह बात बैठानेके लिए कि आत्माके बारेमें जो बात कही जायगी वह यथार्थ होगी। ये श्रोता कैसे जाने? मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि उन्हें यह बतायें कि हम अटपट बोलने वाले नहीं हैं किन्तु शास्त्रका भी अभ्यास किया है, और युक्तियां भी अनेक इस आत्माकी खोजमें सफल हुई हैं और अनुभव भी हमारा है, इससे जो कुछ कहूंगा वह परम्पराके अनुसार और यथार्थ कहूंगा। इस कारण तुम सब ध्यान-पूर्वक इस आत्माकी बात सुनो। ऐसे ही इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामें आचार्य-देव श्रोतावोंके प्रति कह रहे हैं।

प्रस्तावना और समाधान— ग्रन्थ इस श्लोकके बाद शुरू होगा। यह प्रस्तावनाका तीसरा छंद है, अतःकरणमें समाधान तब प्राप्त होता है जब वस्तुविषयक यथार्थ हल निकल आता है। किसी वस्तुके सम्बंधमें जब तक उल्टा ज्ञान चलता है तो समाधान नहीं हो सकता। सही बात मालूम पड़े तो समाधान हो जायगा। यह आत्मा देहसे न्यारा है, इतनी बात जानने के लिए वस्तुवोंका समस्त स्वरूप जानना पड़ता है। यह ध्यानमें आये कि

यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं और समस्त परभावोंसे भिन्न हूं, जो मेरा सहजस्वरूप है उसका जन्म-मरण करनेका स्वभाव नहीं है, इस ज्ञायक स्वरूप भगवान् आत्माका कार्य तो केवल जाननहार रहना और अनन्त आनन्दमें मग्न रहना है। इसके अतिरिक्त और जितनी भी बातें हैं वे सब विपत्ति हैं। दु:खोंका कारण नहीं होता उनका कारण परउपाधि है।

शास्त्रज्ञान व अनुभवज्ञानका मेल— भैया! एक तो शास्त्रसे जानकर अपने आत्माकी बातको अनुभवमें उतारकर फिर शास्त्रकी बातको प्रमाण करना, शास्त्रमें जो लिखा है वह बिलकुल ठीक है, इन दोनों बातों का परस्परमें सहयोग है। कभी हम शास्त्रोंको पढ़कर जानकर अपने आत्माका विश्वास करते हैं और कभी आत्माका अनुभव करके हम शास्त्रों में लिखी हुई बातोंका विश्वास करते हैं कि यह बात बिल्कुल ठीक है। शास्त्रमें जो लिखा है वैसा मेरे अनुभवमें आया है इसलिए यह ठीक है, और मेरे अनुभवमें जो आया है वह शास्त्रोंमे भी मिल गया है इस कारण मेरा ज्ञान पक्का है, ऐसा विश्वास हो जाता है।

अनुकूल अनुभवकी श्रेष्ठता— मोटे रूपमें किसे विश्वास नहीं है कि यह आत्मा देहसे भिन्न है। सब लोग जानते हैं और कुछ ऐसा देखा भी करते हैं कि मरनेके बाद यह देह यहां ही रह जाता है और आत्मा आगे कहीं चली जाती है। इस कारण सबको यह विश्वास है कि शरीरसे आत्मा जुदी चीज है। समयसारमें ऐसा संकल्प करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य देवने चार बातें कही हैं। आगमसे, युक्तिसे और गुरुवोंकी भक्तिके प्रसादसे और अनुभवसे विविक्त आत्माको कहेंगे। प्रथम परिज्ञान होता है शास्त्रोंसे। उसका बोध आत्मामें स्पष्ट बैठता हुआ नहीं हो पाता है। एक विश्वासके आधार पर जान लिया जाता है कि शास्त्रमें इस प्रकार कहा गया है और वह ठीक है, प्रमाणभूत है, शास्त्रकी बात झूठ नहीं हो सकती— इस विश्वासके आधार पर ज्ञान होता है और इससे विशेष परिज्ञान होता है। उस शास्त्रके साथ-साथ युक्तिका भी समावेश हो, शास्त्रसे न मानकर युक्ति चलाए तो वह ज्ञान ठीक नहीं है। शास्त्रका विश्वास रखते हुए फिर उसमें युक्ति भी चलावें और उस युक्तिसे जो बात समझमें आ जाय वह और प्रमाण होती है, और शास्त्रसे भी जाना, युक्तिसे भी जाना और गुरु-सेवाके प्रसादमें, गुरुवोंके वचन भी प्राप्त हुए, उनकी प्रसन्नता भी भक्तपर हुई, और वहां जो बात सुननेमें मिले उससे जो ज्ञान होता है वह और दृढ़ और निर्मल होता है। शास्त्रसे भी जाना, युक्तिसे भी जाना और गुरुवोंकी उपदेश परम्परासे भी जाना, लेकिन अनुभवमें न उतरे तो वहां

तक जानकर भी हमारा काम नहीं बना। वह अपने अनुभवमें भी उतरना चाहिए।

अनुभवकी स्पष्टताका एक व्यावहारिक उदाहरण— जैसे श्रवणबेलगोलमें बाहुबली स्वामीकी प्रतिमा है, उसे उस विस्तारसे भी जान लिया कि ऐसी प्रतिमा है और चित्र देख करके युक्तिसे भी जान लिया कि यह खास कैमरेसे उतारा गया फोटो है। इतना विशालकाय, इतना पूरा होना चाहिए, इतने प्रमाणके हाथ होना चाहिए, यह जान भी लिया और जो उस बातके गुरु हैं याने जो देख आए हैं वे कहेंगे कि हमने देखा है, ऐसी मूर्ति है। जो चित्रोंसे आया है, जो पुस्तकोंमें लिखा है वह बिल्कुल सही बात है, तो उनसे भी जान लिया पर अभी तक अनुभवमें बात नहीं उतरी। जब तक उस प्रतिमाका साक्षात् दर्शन नही कर लिया जाता तब तक उस रूपसे जानने पर भी चित्तमें ऐसा फिट नही बैठता— ओह! यह है वह चीज। वही पुरुष जब दर्शन करने जाता है, दर्शन कर लेता है तो उसे वे पुरानी तीन बातें दृढ़तासे याद आ जाती हैं। ओह! यही है वह प्रतिमा जो पुस्तकमें लिखा था, जो युक्तिसे भी जाना था और देखने वालोंके मुखसे भी समझा था।

आत्मानुभवकी स्पष्टता— इसी प्रकार इस आत्माके सम्बंधमें शास्त्रोमें लिखा है कि आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, देहसे न्यारा है, अमूर्त है, ज्ञानानन्द स्वामी है, और युक्तियोंसे भी जाना। चूँकि मरनेपर देह यहीं रह जाता है, जीव चला जाता है, तो आत्मा इस देहसे न्यारा है, और बड़े ऋषिसंत ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा करके भी उनसे अंतःकरणमें बड़े प्रेमके वातावरणमें उनसे सुना है और इनकी मुद्रासे, उनकी प्रकृतिसे पहिचानमें आया है। इतनी बात होने पर भी जब तक निर्विकल्प समाधिके बलसे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपका ज्ञान होकर अनुभवमे बात नहीं आती तब तक वह बात कुछ ऊपरी ऊपरी ढंग जैसी लगा करती है। हां है और जिस समय बाह्यपदार्थोंका विकल्प तोड़कर किसी अन्य पदार्थकी कोई चिन्ता न रखकर केवल अपने ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञानमें लेकर उसका अनुभवन होता है तो यह बात बिल्कुल दृढ़ निश्चित हो जाती है कि ओह यह है वह आत्मा जो अमूर्त ज्ञानस्वरूप है। यह है वह आत्मा जिसके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारका स्वरूप लिखा है, जिसको हमने युक्तियोंसे भी बहुत बार जाना था। जिसके सम्बंधमे गुरुवोंके प्रसादसे हमें एक शिक्षा प्राप्त हुई थी, वह है वह ज्ञायक ज्ञानस्वरूप आत्मा, ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है।

प्रामाणिकताका प्रमाण— सो आचार्यदेव कह रहे हैं कि शास्त्रसे,

युक्तिसे और अंतःकरणके समाधानसे भली प्रकार इस आत्मस्वरूपका निश्चय करके उन भव्य जीवोंको मैं आत्मस्वरूपकी बात ही कहूंगा। कोई कोई लोग तो अज्ञानवश अपनी शानकी बात कहा करते हैं। जैसे दुकानमें ग्राहकोंसे किसी चीजके बारेमें खूब प्रशंसा करके बोला करते हैं—यह असली माल है और अब दाम और भी तेज हुए जाते हैं, हम बहुत सस्ता दे रहे हैं, बहुत मजबूत है, हम एक ही बात कहते हैं, इसमें मुनाफा नहीं ले रहे हैं, अनेक बातें कहते हैं। तो यहां अज्ञानसे और मोहसे अपनी बड़ाईकी बात की जा सकती है, किन्तु ज्ञानीपुरुष अज्ञानियोंपर दया करके अपनी बड़ाईकी बात किया करते हैं। भावसे नहीं, किन्तु अज्ञानी जीवोंपर दया करके कि यह विश्वास हो जाय कि जो भी आत्माकी बात कहेंगे वह बहुत प्रामाणिक बात कहेंगे। ताकि इन्हें यह पता हो जाय कि इस वक्ताने बहुत आगमोंका अध्ययन किया, युक्तिसे भी पहिचाना और गुरुवोंकी सेवा भी की, उसके प्रसादमें भी ज्ञान पाया और अनुभव भी इसे विशेष है, यह बात श्रोतावोंके चित्तमें बैठे तो श्रोताजन उस उपदेशको निर्बाधरूप से ग्रहण कर लेंगे। इतनी दया करनेके वास्ते ज्ञानीजन भी बता रहे हैं कि हमने शास्त्रसे जाना, युक्तिसे जाना, अनुभवसे जाना। उस ज्ञात और अनुभूत आत्माकी बात मैं तुम्हें कहूंगा।

'विविक्त आत्माका अभिधान— यहां कहनेका शब्द दिया है अभिधान करना। एक कहना होता है शब्दसे और एक खुदकी बातको धारण करते हुए कहना होता है। एक कहना होता है ऐसा कि दूसरे लोग करें, हमें करनेकी जरूरत नहीं है और एक कहना होता है ऐसा कि यही काम तुम्हें करना है और हमें भी करना है, तो इस आत्मतत्त्वकी बात तुम्हें भी करना है और हमें भी करना है। ऐसी सूचना देने वाला शब्द है यह अभिधास्ये'। तो यह मैं शास्त्रसे, अनुमानसे और अपनी शक्तिके अनुसार जो अंतःकरणमें इस तत्त्वके सम्बन्धमें समाधान पाया है, सावधानी प्राप्त की है उससे भली प्रकार निर्णय करके उस कैवल्य आनन्दकी इच्छा रखने वाले भव्य जीवोंको, इस विविक्त शुद्ध आत्माको अपनी शक्तिके अनुसार कहूंगा, ऐसा संकल्प करके अब आचार्यदेव इस श्लोकको कहते हैं।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

हेय, उपाय और उपेय— थोड़े शब्दोंमें चार बात कहे देते हैं। सर्वप्राणियोंमें बहिरात्मापन, अन्तरात्मापन और परमात्मापन है; उनमें से अन्तरात्मापन को उपाय बनाकर बहिरात्मापनको छोड़ो और परमात्मापन

का ग्रहण करो। अब अन्तरात्मापन होनेका उपाय क्या है? इस उपायके बतानेमें यह समाधितन्त्र ग्रन्थ आचार्य देवने बताया है। सर्वदेहियोंमें, बहिरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन प्रकार के आत्मा हैं। इनका लक्षण आगे आयेगा। फिर भी विषय समझानेके लिए थोड़ी इनकी परिभाषा जान लीजिए।

बहिरात्मत्वका स्वरूप— बहिरात्मा-बाहरमें आत्मा समझना सो बहिरात्मापन है। अपनेसे बाहरमें आत्मत्व जो जानता है वह बहिरात्मा है। अब अपन वह कितने हैं, क्या हैं? जिसको छोड़कर अन्य सब बातें बाहरकी कहलाती हैं। इस समस्या पर विचार करिये वास्तवमें वह अपना आत्मा एक ज्ञानस्वभावमात्र है। शरीरादिक परद्रव्य तो आत्मा हैं ही नहीं, और कर्मउपाधिके सम्बंधसे जो विभाव उत्पन्न होते हैं, राग-द्वेष, वे भी अपने नहीं हैं। यह स्वयं तो वह है जो सदा रहता है वह है चित्तरूप। उस चिदानन्दमय अपने आत्माको छोड़कर बाहरमें किसी भी चीजको आत्मा मानना सो बहिरात्मापन है। जितना भी जीवोंको क्लेश है उनका मूल बहिरात्मबुद्धि है। स्वयं जितना यह अपने आप है उतना ही इसकी दृष्टिमें रहे तो इस ज्ञानस्वभावी आत्माको क्लेशका फिर कारण न मिलेगा। ऐसे इस ज्ञानस्वभावी आत्माको छोड़कर बाहरमें अर्थात् स्वरूपसे बाहरमें अपना आत्मा समझना सो बहिरात्मापन है।

अन्तरात्मा व परमात्माका स्वरूप— अन्तरात्मा किसे कहते हैं? अपना अंतरंग जो स्वरूप है उस स्वरूपको ही जो आत्मा मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं। यद्यपि अनेक अन्तरात्मा बाहरी कार्योंमें भी प्रवृत्त होते हैं और उनको रागद्वेषकी बातें भी सताती हैं फिर भी वे अपने अंतरङ्गमें अपने ज्ञानस्वभावमात्र आत्माको आत्मा जानते हैं। इसी कारण उनका संसार लम्बा नहीं होता है। वे कर्मोंकी निर्जरा फिर भी कर रहे हैं। परमात्मा कहते हैं उसे जो आत्मा परम हो गये हैं अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मीमें संयुक्त हो गए हैं ऐसे आत्माको परमात्मा कहते हैं।

सर्वजीवोंमें आत्मत्रितयता— इन तीनों तत्त्वोंके सम्बंधमें छहढाला में बड़े संक्षेपमें स्वरूप कहा है, कि जो देह और जीवको एक मानता है उसे बहिरात्मा कहते हैं, और जो अन्तरके आत्माको आत्मा मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं और उत्कृष्ट ज्ञानसे जो सहित है उसे परमात्मा कहते हैं। ये तीनों स्थितियां प्रत्येक जीवमें पायी जाती हैं, किसीमें कुछ भूतरूपसे, किसीमें कुछ वर्तमानरूपसे, किसीमें कुछ भावीरूपसे। जो अज्ञानीजन हैं, मिथ्यादृष्टि, जड़ देहको ही आत्मा मानने वाले हैं वे वर्तमानमें

बहिरात्मा हैं और उनमें अन्तरात्मा होनेकी शक्ति है और परमात्मा होनेकी भी शक्ति है, ऐसी यह त्रितयता बहिरात्मामें भी है। जो इस समय ज्ञानी है, अन्तरात्मा है वह भूतकालकी अपेक्षा तो बहिरात्मा है और भावीकालकी अपेक्षा परमात्मा है, वर्तमानमें अन्तरात्मा है। जो परमात्मा हो गए हैं वे भूतकालकी अपेक्षा बहिरात्मा और निकट भूतकाल की अपेक्षा अन्तरात्मा हैं तथा वर्तमानमें परमात्मा है ही।

अन्तरात्मत्वकी उपायभूतता— आचार्यदेव कहते हैं कि इन ३ में से मध्यकी बातको उपाय बनाया अर्थात अन्तरात्मा बने और अतरात्मा के उपायसे बहिरात्मापनको छोडे और परमात्मापनको ग्रहण करें। इस जीवका इस जीवसे बाहर कुछ भी सबध नहीं है। देह तक भी तो इस जीव के साथ नहीं है। कौन चाहता है कि हमारी मृत्यु हो? पर होती अवश्य है। मरते हुए अनेक लोगोंको देखा है और खुदको भी वही शंका बनी रहती है और ज्योतिषियोंसे पूछते भी रहते हैं कि हमारी उमर कितनी है? तो मृत्युका भय इस जीवको लगा हुआ है। जब देह भी अपना नहीं है तो अन्य बाहरी चीज अपनी क्या होंगी? देह और जीवको एक मानने वाला बहिरात्मा है, अन्य चीजोंको भी वह अपनी मानता है, पर देहके सम्बंधसे अपनी देहमें प्रीति है तो इस देहके आरामके साधक बाह्य-पदार्थोंमें भी प्रीति है। जिन्हें यह सम्यग्ज्ञान हो गया है और समस्त वस्तु स्वतंत्र-स्वतत्र दृष्टिमें आने लगी हैं, ऐसे पुरुषोंको अन्तरात्मा कहते हैं।

ज्ञानके अतिरिक्त अन्यतत्त्वमें सर्वप्रियताका अभाव— भैया! सब से प्रिय चीज है तो ज्ञान है। ज्ञानसे और अधिक प्रिय चीज कुछ भी नहीं है। उसका उदाहरण— जैसे जब बच्चा साल डेढ़ सालका होता है तो बतावो उसे सबसे प्यारी चीज क्या है? सबसे प्यारी चीज है मांकी गोद। इससे बढ़कर उसे और कुछ नहीं लगता। जब वह चार-पांच वर्ष का हो जाता है तो प्यारे लगने लगे खेल खिलौने। मांकी गोद भी अब उसे प्रिय नहीं लगती। मां पकड़ कर रखेगी तो छूटकर वह भागना चाहता है। उसे तो खेल खिलौने प्रिय हो गए। जब १०, १५ वर्षका हो जाता है तो उसे विद्या प्रिय हो जाती है, परीक्षा आ रही है, विषय याद कर रहा है, रात दिन परिश्रम किया जा रहा है। तो उसको अब विद्या प्रिय हो जाती है। अब विद्या तक ही निगाह नहीं है, विद्या उसके लिए गौण है, अब तो कोई डिग्री मिलनी चाहिए। डिग्री मिल चुकी। अब उसके लिए प्रिय होती है स्त्री। विवाहकी अभिलाषा होती है। दो चार वर्ष स्त्रीसे प्रीति की, उसके बाद उसे बच्चे प्रिय हो जाते हैं। बच्चे भी हो गए तो

अब उनकी रक्षा करनी है, तो अब उसे धन प्रिय हो जाता है। अब उसे न स्त्री प्रिय रही, न बच्चे प्रिय रहे।

कल्पित प्रियतमोंकी प्रियताका लोप— अब फिर पासा पल्टा। मान लो यह घरका मालिक किसी दफ्तरमें कार्य कर रहा है और फोन आ जाय कि अचानक घरमें आग लग गयी तो वह दफ्तर छोड़कर भागेगा और घर पहुंचकर वहां धन निकालनेकी कोशिश करेगा। स्त्री, बच्चे सब को बाहर करनेकी कोशिश करेगा और रह जाय कोई एक छोटा बच्चा घरके भीतर और आग तेज बढ़ जाय तो वह दूसरोंसे कहेगा— अरे भाई मेरा बच्चा तो रह ही गया है उसे निकाल दो, हम ५ हजार रुपये इनाम देंगे। अरे भाई तू खुद ही क्यों नहीं चला जाता। नहीं जाता क्यो कि उसे बच्चेसे भी धनसे भी प्रिय है अपनी जान, अपने प्राण। तो अब क्या प्यारा हो गया सबसे अधिक ? अपनी जान।

ज्ञानकी सर्वप्रियता— कभी ज्ञान और वैराग्य उसके समा जाय और साधु हो जाय। वनमें ध्यान कर रहा है, समाधिका अभ्यास कर रहा है और वहां कोई हिंसक जानवर आ जाय तो वह योगी क्या करता है ? अपने ज्ञान ध्यानकी रक्षा करता है, समता परिणामकी रक्षा करता है। हालांकि उसमें इतनी ताकत भी है कि उन जानवरोंको भी हटा सकता है, शत्रुको भी भगा सकता है पर उनका भी उसे विकल्प नहीं है। वह जानता है कि यह विकल्प किया जायगा तो अपने उस समाधि, समता परिणाम का विनाश हो जायगा। सो वह ज्ञानकी रक्षा कर रहा है, तो अब उसे ज्ञान प्रिय हो गया। अब ज्ञानसे बढ़कर और प्रिय क्या होगा ? इससे आगे और गति नहीं है। तो यह ज्ञान जिन्हें प्रिय हो जाता है, इसको निर्मल स्वच्छ बनाए रहनेकी जिसके अन्तरमें वृत्ति होती है वह पुरुष अन्तरात्मा कहलाता है।

अन्तरात्मत्वका प्रादुर्भाव— इस अन्तरात्मा बननेके उपायसे उनकी दो बातें होती हैं, बहिरात्मापन छूट जाता है और परमात्मापन प्रकट हो जाता है। अब जरा अन्तरमें यह देखिये कि इस जीवकी खुदकी स्थिति और बद्धकर्मोंकी परिस्थिति किस प्रकारसे चलती रहती है ? जब यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है तो मिथ्यात्व प्रकृतिका उसके उदय है और यहां विपरीत आशय है। जैसे किसीका किसीसे वैर हुआ तो उस माने गए वैरीके चलने, उठने, बैठने, बोलने सभीका अर्थ अपने विरोधमें लगाता है। यों ही यह मिथ्यादृष्टि जिस चीजको पाता है, जो संघ मिलता है, उस में ही अपना विपरीत आशय बनाता है। जब इस अज्ञानी जीवको भी

कुछ कर्मोंकी मंदता होनेपर धर्मकी प्रीति जगती है, ज्ञानका अभ्यास करने लगता है तो उसे कुछ असारता मोटे रूपसे नजर आने ही लगती है। तो उस असारताकी बुद्धिमें वह प्रगति करता है और ज्ञानकी ओर विशेष लगता है। यद्यपि अभी तक उसके सम्यक्त्व नहीं जगा, पर मिथ्यात्वके मंद उदयमें भी धर्मकी ओर कुछ रुचि चलने लगती है— (ज्ञानकी ओर)। तो जब वस्तुपरिज्ञान किया और वस्तुवोंकी भिन्नता समझमें आने लगी तो किसी समय सर्व परवस्तुवोंकी उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपमें विश्राम करता है। उस विश्रामकी हालतमें यह दृष्टि स्वभावमें जब फिट बैठ जाती है, अनुभव जगता है, तब अनुभव जगनेके ही साथ सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है। इस क्षणके बाद फिर उसे धर्म की, ज्ञानकी सब बातें सुगम हो जाती हैं।

एकत्वरुचि— यह ज्ञानी जीव अन्तरमें रुचिकी अपेक्षा तो ज्ञानरत है, परसे विरक्त है, ज्ञाता है, पर प्रवृत्तिमें अभी इस मार्गमें आगे नहीं बढ़ा है। अब वह क्रमसे बढ़ता है और, अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थिरताको बढाता है। इस ज्ञानस्वरूपकी स्थिरताके बलसे ये सब कर्म छूटने लगते हैं। यहा इस ज्ञानका जब दबाव दूर हुआ, आवरण दूर होने लगता है तो किसी समय एकदम शुद्धज्ञान प्रकट होता है। जब यह आत्मा खालिस रह जाय, केवल रह जाय, इसके साथ कुछ भी न हो। स्वयं सत् है ना, तो जैसा यह स्वय सत् है वैसा ही मात्र रह जाय तो यह इसकी शुद्धता है और इसमें ही इसके गुणोंका पूर्ण विकास होता है। कल्याणार्थीको चाहिए कि जितना भी बन सके ऐसा यत्न करना चाहिए कि अपनेको अकेला देखे।

एकत्वदर्शनरूप औषधि— भैया! सुख शांतिका उपाय यही एक है कि जितना अपने आपको केवल देख सके। बडे योगी संत अपने आपको इतना केवल देखते हैं कि उनके केवल ज्ञानमात्र यह आत्मानुभूति होती है। व्यवहारमें भी जब कभी आपत्ति आ जाती है, इष्ट उपयोग हो जाता है तो बड़ा दिल परेशान रहता है, जिससे वर्षों प्रीति रखी और जिसकी ओरसे भी बड़े प्रेमके शब्द सुननेको मिले और इसी कारण बहुत उसमें अनुराग हो गया है। अब संसारके नियमके अनुसार वह गुजर गया तो उस गुजरे हुए इष्ट पुरुषके प्रति जो क्लेश होता है चिंतन करके सयोगकी भावनामें, उस क्लेशको मिटानेमें समर्थ अपने आपको अकेला समझ सकना है। और कोई उपाय नहीं है। इष्ट वियोगसे उत्पन्न हुए दुःखको क्या सोडा लैमनकी बोतलें मिटा देगी, क्या निम्बू सतराके शरबत मिटा देंगे या रिश्तेदार लोग बहुत प्रेम करके समझाएँ, घरके लोग बढिया-

बढ़िया भोजन सामने रखकर खिलाएँ ये सब बातें उसके दुःखको नहीं मिटा सकतीं। उसके दुःखको तो वही मिटा सकता है। जब यह जान जाय कि यह मैं तो सबसे विविक्त केवलस्वरूप मात्र हूं, तो अपने आपको केवल समझ लेना, यही क्लेशोंके दूर करनेका उपाय है।

अन्य समस्तसे सर्वथा विविक्तता— इस अन्तरात्माने भी अपने आपको यही समझा है जिससे इसका क्लेश एकदम समाप्त हो गया है। देहसे भी भिन्न ज्ञानस्वरूपमात्र आकाशवत् निर्लेप यह मैं चैतन्य पदार्थ हू। यह सब अनात्मावोंसे एक समान जुदा है। ऐसा नहीं है कि घरके आदमियोंसे कम जुदा हो और बाहरके दूसरे घरके लोगोंसे जीवोंसे अधिक जुदा हो, ऐसा भेद नहीं है। यह अपने स्वरूप मात्र है। और जैसे यह अत्यन्त जुदा दूसरे बाहरके लोगोंसे है उतना ही पूर्ण अत्यन्त जुदा गृहमे बसने वाले परिवारके लोगोंसे भी है। ऐसा सबसे विविक्त ज्ञानस्वरूपमात्र अपन आपका विश्वास रखने वाले जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं।

गुणपूजा— भैया! ये सब अपने आत्माकी अवस्थाएँ हैं। जब हम भगवान्की याद करे, भक्ति करे, नाम ले तब हमे यह भी ध्यानमे रखना चाहिए कि मेरा ही तो यह स्वरूप है। जैनसिद्धान्तमे आत्मसाधनाके पथमे ५ परमपद बताए गए हैं। किसी व्यक्तिका महत्त्व नहीं है इस सिद्धान्तमे भगवान् महावीर भी पूजे जाते हैं तो भी एक महावीरस्वामी थे इसलिए पूजे जाते हों यह बात नहीं है और जितने भी तीर्थंकर आदिनाथ, पार्श्वनाथ अथवा अन्य सामान्य केवली हनुमान रामचन्द्रादिक जो भी पूजे जाते हैं वे चूंकि राम थे। वे चूंकि हनुमान थे, आदिनाथ थे इस नाते से नहीं पूजे जाते हैं। वे वीतराग सर्वज्ञ आत्मा हैं, इस कारण पूजे जाते हैं और इसीलिए जो मूल मंत्र है उसमें किसी व्यक्तिको नमस्कार नहीं किया गया है। फिर किन्हें नमस्कार किया गया है? तो आत्मसाधनाके वशमें जिनका विकास हो जाता है उन विकासोंको नमस्कार किया गया है।

परमेष्ठिताके विकास— परमेष्ठियोंमें से प्रथम विकास है साधुता। इसमे आचार्य उपाध्याय और साधु तीनों शामिल हैं। ये तीनों एक बराबर हैं। साधु भी रत्नत्रयकी सेवा करता है, उपाध्याय भी रत्नत्रय धर्मकी सेवा करता है और आचार्य भी इस ही रत्नत्रयरूप धर्मकी सेवा करता है। इन तीनों प्रकारके साधुवोंमें जिस किसीको भी उत्कृष्ट साधना हो जाय, निर्विकल्प समाधि बन जाय तो वही साधु कर्मोंका क्षय करके अरहत हो जाता है। अरहत कहते हैं शरीरसहित भगवान्को। क्यो कि पुरुष ही आत्मसाधना कर निर्वाण पाता है। तो पहिले बड़ी विशुद्धि आने पर भी कुछ

समय तक शरीरका संग रहता है। सो जितने समय वीतराग सर्वज्ञ हो जाने पर भी शरीरके साथ हैं उतने समय तक वे अरहंत कहलाते हैं। जब अरहंत नामका स्मरण हो तब यह भी ध्यानसे न भूलना चाहिए कि वह मेरी ही तो अवस्था है, एक जाति है, ऐसा मैं भी हो सकता हूं।

प्रभुपूजाका प्रयोजन— यदि अपनेमें प्रभुत्वशक्तिका निर्णय नहीं है तो अरहंतको माननेकी जरूरत क्या है? क्योंकि कोई भी भगवत हो, किसी दूसरे जीवको सुख दुःख दे, धनी निर्धन बनाएँ, स्वर्ग नरक भेजे इस खटपटमें वे भगवान् नहीं पड़ते हैं। भगवान् तो समस्त विश्वके ज्ञाता होकर भी आनन्दरसमें लीन रहते हैं। सो उनसे कुछ अपना स्वार्थ तो बनता नहीं, फिर भगवान्को क्यों पूजा जाय? भगवान्के पूजनेका यही प्रयोजन और उद्देश्य बनाना चाहिए जिससे ऐसी उत्कण्ठा जगे कि मैं भी सर्वकर्मोंका क्षय करके ऐसा हो सकूँ और यह मेरी ही परिणति है। कोई अचेतनकी परिणति नहीं है, चेतनकी परिणति है। फिर अरहंत अवस्था के बाद स्वयंमेव शेष बचे हुए कर्ममलका क्षय हो जाता है और उसके साथ ही एकदम शरीर कपूरकी तरह उड़ जाता है। वहां फिर कोई शरीरके अंग नहीं रहते हैं। और यह आत्मा देहसे छूटकर सदाके लिए मुक्त हो जाता है। ऐसे मात्र आत्माको सिद्ध भगवान कहते हैं। जब सिद्धका स्मरण करें तो अपने आपमें यह प्रतीति बनायें कि यह मैं स्वयं हूं, मैं ऐसा हो सकता हूं। यों इस श्लोकमें यह शिक्षा दी है कि अन्तरात्मा बनने के उपायसे यह आत्मा बहिरात्मापनसे दूर हो और परमात्मापनको ग्रहण करे।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

त्रिविध आत्मावोंमें से बहिरात्मा लक्षण— इस छन्दमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका स्वरूप कहा गया है। जो शरीरादिमें अपना आत्मा माने उसे बहिरात्मा कहते हैं। आदि शब्दसे मन और वचन ग्रहण करना है अर्थात् तन मन और वचनमें जो यह मैं आत्मा हूं ऐसा माने उसे बहिरात्मा कहते हैं। धन वगैरहकी इसमें चर्चा नहीं है क्योंकि वह तो प्रकट भिन्न है। उसके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का सम्बन्ध तन, मन और वचनसे है इसलिए धनमें आत्मा मानना ऐसी बात यहां नहीं कही जा रही है। जो धनको ही आत्मा माने, उसकी तो चर्चा करनी ही न चाहिए। वह तो अति व्यामोही पुरुष है।

देहात्मबुद्धिना— शरीर है, सो आहारवर्गणा जातिके पुद्गल

स्कंधोंका पिण्ड है, किन्तु यह आत्मा चेतन है और ये सर्वस्कंध अचेतन हैं। इन सर्वस्कंधोंकी और आत्माकी जाति ही नहीं मिलती है और फिर भी शरीरको आत्मा माने सो वह बहिरात्मा पुरुष है। मन भी एक शरीरका अङ्ग है अथवा शरीरके अवयवरूप मनको निमित्त करके जो विचार, कल्पनाएँ बनती हैं वे मन कहलाती हैं और जो विचार कल्पनाओंको आत्मा न माने वह है ज्ञानी और उन्हें ही जो आत्मा मानता है वह बहिरात्मा। वचन इस आत्माकी इच्छा और प्रयत्नके कारण जो शरीरके अंगोंमे परिस्पद होता है उसका निमित्त पाकर भाषावर्गणा जातिके स्कंध जो वचनरूप परिणमते हैं उन्हें वचन कहते हैं। इन वचनोंमें यह मैं हू या मै बोलता हुं, मै ऐसा कहूंगा इत्यादि प्रकारसे वचनोमें आत्मीयका सम्बंध करना यह भी बहिरात्मापन है। तन, मन और वचन ये तीन प्रकट अचेतन है अथवा भाव मन भी आत्मस्वभाव न होनेसे जीव नहीं माना गया। उन सबमें आत्मापनका भ्रम करना सो बहिरात्मापन है।

अन्तरात्माका स्वरूप—अन्तरात्माका लक्ष्य किया गया है कि चित्त, दोष तथा आत्मा इन तीनोंमें जब किसीके भ्रम नहीं रहता है उसे अन्तरात्मा कहते है अर्थात् चित्तको चित्तरूपसे ही ही माने, दोपोंको दोपरूपसे ही मानें और आत्माको आत्मारूपसे ही मानें ऐसी जहां यथार्थ दृष्टि होती है उसे कहते हैं अन्तरात्मा। चित्तका अर्थ है कल्पना, विचार अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान। बहिरात्मा जीव क्षायोपशमिक ज्ञानको आत्मसर्वस्व मान लेता है। जैसे यहां जानन इसी तरह बना हुआ है बस यह मात्र मै हूं ऐसी प्रतीतिका नाम चित्तमे भ्रम पैदा करना कहलाता है। नहीं तो चित्तको चित्तरूप मानना था। यह खण्डज्ञान है, क्षायोपशमिक ज्ञान है। अमुक-अमुक ज्ञानावरणके क्षायोपशमके कारण उत्पन्न हुआ है। यह मै नहीं हू। हां मेरे उपादानसे प्रकट हुआ है। यो उस चित्तसे अपने आत्मस्वरूपको जो न्यारा समझे उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

चित्तदोपात्मविभ्रान्तिता—जब चित्तसे ही अपनेको जुदा समझ लिया तो दोपोंसे अपने आपका तो जुदा समझना प्राथमिक ही बात है। रागद्वेष आदिक विभाव जो कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं उन विभावोंमें यह मै आत्मा हूं ऐसी स्वीकारता करना सो बहिरात्मापन है और यह दोप दोप है, रागादिक विभाव औदयिकभाव हैं, उन औदयिक भावोसे विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपका प्रत्यय करना सो अन्तरात्मापन है। चित्त और दोष ये दोनो ही आत्मतत्त्व नहीं होते हैं। मैं परम पारिणामिक भावस्वरूप एक ज्ञानानंद चैतन्यतत्त्व हू।

अब आत्माको भी आत्मारूपसे मानना यह अन्तरात्माके लक्षणमें तीसरी बात कही गयी है। कितने ही जीव परको आत्मा मानते हैं, कितने ही जीव आत्माको पररूप मानते हैं। सारा विश्व एक मैं हूं ऐसी जिसकी प्रतीति रहती है, कल्पना होती है उन्होंने समस्त परको आत्मा मान लिया है अथवा सर्व चीजें प्रतिभासमात्र हैं, जिसे ज्ञानाद्वैत कहते हैं। सब कुछ ज्ञानमात्र है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, ऐसी कल्पनामें उसने अपनेको सर्वरूप मान लिया। इन दोनों ही कल्पनाओंमें आत्माको आत्मारूपसे स्वीकार नहीं किया गया है। तो जिनके चित्तसे, बोधसे और आत्मासे भ्रांति मिट गयी है, उन्हें उस ही रूप समझते हैं उन्हें कहते हैं अन्तरात्मा।

परमात्मतत्त्व— परमात्मा उसे कहते हैं जो अत्यन्त निर्मल आत्मा हो। परमात्मा शब्दमें तीन शब्द हैं पर, मा, आत्मा। परमें पर मा इन दो शब्दोंका समास है, उत्कृष्ट लक्ष्मी जहां हो उसे परम कहते हैं। लक्ष्मीका अर्थ है ज्ञान। लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्षण ये सब एकार्थक हैं। लक्ष्म शब्द नपुंसकलिङ्ग है और लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिङ्ग है। पर एक ही शब्द है। लक्ष्मका अर्थ है लक्षण। आत्माका लक्षण है ज्ञान और उस ज्ञानका ही नाम लक्ष्मी है। लक्ष्मीकी आकांक्षा करने वाला तो चैतन्यतत्त्व ही होता है। अचेतनमें आकांक्षा नहीं होती और उन चेतनोंका लक्षण है ज्ञान। इसलिए ज्ञानका ही नाम लक्ष्मी है। देखो तो गजब, लक्ष्मीके ज्ञान बिना लक्ष्मी लक्ष्मीको चाह रही है। लक्ष्मी नामक कोई देवी हो, जो धन बिखेरती हो ऐसा कुछ नहीं है। ज्ञानका ही नाम लक्ष्मी है। ज्ञान ही अर्थोपार्जन कराने वाला है। इससे इस ज्ञानलक्ष्मीको ही पहिले कालमें लक्ष्मी कहा जाता था और लक्ष्मीके पूजनेका अर्थ है ज्ञानकी पूजा।

दीपावली निर्वाणपूजा व ज्ञानपूजाका प्रतीक— दिवालीके समय प्रातःकाल तो निर्वाणपूजा होती है और सायकालको लक्ष्मीपूजन होता है। हुआ क्या था कि कार्तिक वदी अमावस्याके प्रातःकाल वीरका निर्वाण हुआ था और अमावस्या को ही सायकाल गौतमगणधरको केवलज्ञान हुआ था। सो प्रातः दीपमालिका मनाते हैं वह है निर्वाणकी और सायकाल जो दीपमालिका मनाते हैं वह है ज्ञानपूजा। उपादेयभूत ज्ञानलक्ष्मी थी पर जो उत्कृष्ट उपादेयभूत है वह कहलाती है लक्ष्मी। ऐसा तो ध्यानमें रहा, पर मोही जीवोंको उत्कृष्ट और उपादेय धन जचा सो उसका नाम लक्ष्मी लिया जाने लगा और वैभव धन तो नानारूपोंमें है। सोना, चांदी, रुपया, नोट, अनाज, घर अनेक रूपोंमें धन है, तो फिर पूजे किसे किसे ? तो सब

वैभवोंकी प्रतिनिधिरूप एक लक्ष्मी नामकी देवताकी कल्पना की। जिसके चार हाथ हो, दो हाथी अगल बगल माला लिए खड़े हों और हाथोंसे रुपये गिराते जा रहे हों, इस तरहसे आकाररूप वाली लक्ष्मी देवताकी पूजा करने लगे। वास्तवमें लक्ष्मी नाम है ज्ञानका। उत्कृष्ट मां अर्थात् लक्ष्मी। याने ज्ञानलक्ष्मी जहां हो उसे परम कहते हैं और इन दोनों शब्दोंके साथ कर्मधारय समास है। परम जो आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं।

निर्मल आत्मतत्वकी प्राप्तिका उपाय— यह परमात्मा अत्यन्त निर्मल है; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। पर जैसे कि पूर्व श्लोकमें बताया है कि बहिरात्मापन छोड़ना चाहिए। परमात्मापन ग्रहण करना चाहिए और इन दोनोंके ही त्याग और उपादान करनेका उपाय है अन्तरात्मा बनना अर्थात् आत्माका सनातन सत्य जो पारिणामिक स्वरूप है चितस्वभाव वह क्या स्वरूप रखता है? उस स्वरूपकी पहिचानमें, उस स्वरूपकी दृष्टिमें, प्रतीतिमें अपने आपको लगाना चाहिए। उस स्वरूप-दर्शनकी सुविधामें यह जान लेना चाहिए कि जानन क्या कहलता है? जानन यद्यपि परिणमन है और अपनेको समझना है ज्ञानगुणको, ज्ञान शक्तिको, स्वभावको तथापि उस स्वभावको परखनेके लिए प्रथम ज्ञान परिणमनके स्वरूपको जानो। जाननरूप परिणमन क्या है? किसका नाम है जानन? यह जाननस्वरूप शीघ्र ग्रहणमें आ सकता है क्योंकि यह साकार है। उस जाननके रूपको समझते हुएमें जो ज्ञेयपदार्थ ज्ञानमें आ रहे हैं उस ज्ञेयकी मुख्यता न करें और उस जानन परिणमनकी मुख्यता करें अर्थात् जो बाह्य ज्ञेयपदार्थ आ रहे हैं उनको न छूकर जो ज्ञेयाकार परिणमन रहता है उसको जाने।

मात्रज्ञेयाकार ग्रहणकी शक्यता— जैसे दर्पणके सामने कोई चीज रखी है उसका दर्पणमें प्रतिबिम्ब हो गया तो उस कालमें हम दर्पणके प्रतिबिम्बमात्रको ही देखें ऐसा भी तो कर सकते हैं। बाह्य अर्थका कुछ विकल्प न करें, केवल दर्पणमें अन्तःप्रतिबिम्बको देखें। जैसे हम यहां बाह्यपदार्थों को न निरखकर केवल द्रव्यके अंतःबिम्बको देख सकते हैं, इस ही प्रकार हम बाह्य ज्ञेयतत्त्वोंको न निरखकर अपने आत्मप्रदेशमें जो ज्ञेयाकार परिणमन हो रहा है, मात्र उस ज्ञेयाकार परिणमनको हम देख सकते हैं और ऐसा देखते हुए में जाननका स्वरूप समझ सकते हैं।

ज्ञानाकार ग्रहणका यत्न— उस जाननस्वरूपको समझते हुए अब हम उसके स्रोतरूप शक्ति और स्वभावमें उतरें तो पर्यायरूप जाननका परिणमनका विकल्प भी हटकर मात्र जानन स्वभाव पर दृष्टि होगी। इस

जानन स्वभावकी प्रतीति, आश्रय, आलम्बन शुद्ध जानन परिणमनका कारण होता है। अर्थात् शुद्ध केवलज्ञान प्रकट होनेका कारण है ज्ञान-स्वभावका आलम्बन। इस तरह इस छंदमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका लक्षण कहा है। अब परमात्माका और विशेष वर्णन करनेके लिए श्लोक कह रहे हैं।

निर्मल: केवल: शुद्धो विविक्त: प्रभुरव्यय:।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिन: ॥६॥

त्रिविध आत्मावोंके स्वरूप विवरणका क्रम— आत्माके जो ये तीन प्रकार कहे गए हैं उनका सामान्य लक्षण कहकर विशेष वर्णनके प्रसंगमें सबसे पहिले परमात्माका वर्णन क्यों किया जा रहा है? इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थमें परमात्माका वर्णन तो बस इस एक श्लोकमें हो गया है, इससे अधिक वर्णन है बहिरात्माका और उससे अधिक वर्णन है अन्तरात्माका। और इस प्रकार वर्णन करनेका कारण यह है कि परमात्माके स्वरूपको तो एक बार जानना है और उसे आदर्शरूपसे पहिचानना है। काम तो यह पड़ा है कि बहिरात्मापनका तो परित्याग करना और अन्तरात्मापनका ग्रहण करना। यदि बहिरात्मापनका त्याग करना है व अन्तरात्मापनको ग्रहण करना है तो उसकी बात भी जाननी चाहिए कि क्या क्या कलाएँ इस बहिरात्मा अवस्थामें होती हैं जिन कलावोंको दूर करना है और कौन कौन कलायें हैं अन्तरात्मावस्थामें जिन कलावोंसे अन्तरात्मा बनना है। विवरणमें सबसे अधिक यों समझना है कि परमात्मा बनना है तो यहां सर्व प्रथम परमात्माका विवरण किया जा रहा है।

परमात्माकी निर्मलता— परमात्माको अनेक विशेषणोंसे बताया है। वह निर्मल है, मलरहित है। जिसका मल दूर हो गया हो उसे निर्मल कहते हैं। यह चित् स्वरूप अमल है किन्तु भगवान निर्मल है। यद्यपि स्थूलरूपसे अमलका भी यही अर्थ है और निर्मलका भी वही अर्थ है, पर अमल शब्दमें यह ध्वनित है कि मल नहीं था, मल नहीं है, मल न होगा। ऐसी बात आत्मस्वभावमें पायी जाती है। प्रभु निर्मल है, इसके पूर्व संसार अवस्थामें मल था और वह मल दूर किया गया है, निर्मल हो गया है। भगवान्के द्रव्यमल और भावमल दोनों नहीं हैं। द्रव्यमलमें आया शरीर और द्रव्यमल, भावमलमें आए रागद्वेष आदिक भाव और क्षायोपशमिक ज्ञान, कल्पना, विचार, तर्कणा ये सब भावमल हैं। परमात्मा द्रव्यमल और भावमल दोनोंसे रहित है।

सकल परमात्माकी निर्मलता— परमात्माके लक्षणमें अरहंत भी

आते हैं व सिद्ध भी आते हैं। सिद्ध तो तीनों प्रकारके मलोंसे रहित है। और अरहंत आत्माके गुण घातने वाले द्रव्यकर्मसे रहित है तथा रागादिक तर्कणादिक सर्व भावमलसे रहित है। अरहंतके द्रव्यकर्म मल शेष रहता है अथवा शरीररूप मल शेष रहता है, किन्तु वह अशक्त मल आत्माके गुणोंमें किसी भी प्रकारका विघात नहीं करता है।

प्रभुका कैवल्य— भगवान् प्रभु केवल हैं। केवलका अर्थ स्वरूपसत्ता मात्र है। परपदार्थोंके संग और प्रभावसे रहित है। 'क' नाम आत्माका भी है अथवा यदि केवल शब्दमें वकारको व बोल दिया जाय, केबल, अथवा बवयोरभेद की दृष्टिकी जाय तो उसका अर्थ होगा कि आत्मामे ही जिसका बल लगा हुआ है अर्थात् शुद्ध हुआ है, किसी परपदार्थकी दृष्टि नहीं कर रहा है, ऐसा सर्वविविक्त स्वरूपमात्र जो प्रकट हुआ है उसको केवल कहते हैं। केवल कहो, प्योर कहो दोनोंका एक भाव है। यद्यपि साधारण तौरसे प्योरका अर्थ कहते हैं पवित्र, पर सीधा अर्थ है सिर्फ रह जाना, केवल रह जाना। केवल रह जानेका ही नाम पवित्र होना कहलाता है। पवित्र होना कोई दूसरी चीज नहीं है। जो चीज सहज अपने स्वरूप जैसी है वैसी ही रह जाय उसीका नाम है केवल। प्रभु अरहत और सिद्ध भगवान् केवल हैं, अपनी स्वरूप सत्तामात्र हैं।

प्रभुकी शुद्धता— प्रभु शुद्ध हैं। जैसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अपने ही स्वरूपमात्रसे रहते हैं, उसमें परका सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार यह प्रभु परमात्मा भी केवल अपने स्वरूपसे रहता है। प्रभुमे इच्छाका सम्बन्ध जोड़ना और जगत्के जीवोंको सुखी दुःखी करनेका सम्बन्ध जोड़ना, जीवोंको कर्मके अनुसार फल देनेकी बात कहना, क्रिया को जोड़ना यह भगवान्के स्वरूपका अपमान है और प्रभु तो समस्त स्वतत्त्वोंको जान कर केवल आत्मीय आनन्दरसमे लीन रहता है। यदि प्रभु जीवको सुख दुःख देने लगे तो जैसे हम आप लोग ससारी जीवोंको सुख और दु ख देनेका यत्न करते है इसी प्रकार उनका यत्न हुआ। कदाचित् कोई यह कहे कि यह तो ईश्वर है जो जीवोंपर दया करता है। पापका फल देता है, दु:ख देता है, जिस जीवका पुण्योदय हुआ उसको सुख देता है क्योकि उसका अच्छा परिणाम था। सो ऐसी स्थितिमें जल्दी-जल्दी तो कुछ सुहावनासा लगना है किन्तु इस प्रकार यदि वह ईश्वर वह प्रभु विपरिणमन करे तो उसमे शुद्धता ठहर ही नहीं सकती है।

ज्ञानानन्दस्वरूपमग्नतामें ही शुद्धताकी स्थिति— भैया! वस्तुस्वरूप की जिन्हें परख नहीं है, वे ही इस प्रकारकी कोई अकल्पित कल्पना करते

हैं। जैसे जिस समय रेलगाड़ी पहिले ही निकली होगी, लोग बतलाते हैं कि जब रेल निकली तो देहाती लोग उसे देखनेको जुड़े, और देहाती यह कहने लगे कि आगे जो इसमें काला-काला है उसमें काली देवी रहती है और वह कालीदेवी इस गाड़ीको चलाती है। अन्य देशोंमें भी ऐसी कल्पना वाले लोग होंगे किन्तु इस देशमें ऐसी कल्पना करने वाले बहुत कालसे चले आए हैं। जो बात समझमें न आयी, जिसका कार्यकारण विधान ज्ञात नहीं है, जिसका स्वरूप निर्णयमें नहीं आता बस एक ही उत्तर है कि ईश्वरकी ऐसी मर्जी है, उसीकी यह सब लीला है। इसीसे अनेक सज्जनोंने यह कहना शुरू किया कि वह ईश्वर ही सबको सुखी करता और दुःखी करता है।

परके अकर्तृत्व व ज्ञातृत्वमें शुद्धताकी स्थिति– भैया! मान लो जो पाप कर्म करता है उन्हें फल देता है ईश्वर, तो पाप कर्म कराना भी ईश्वर के अधिकारकी बात होना चाहिये अन्यथा स्वतंत्रता कहां रही? लो यों ईश्वरने ही पाप कराया और ईश्वरने ही पापका फल दिया। ईश्वरने ही पुण्य कराया और ईश्वरने ही पुण्यका फल दिया, तो फिर उदारता कहां रही? किसीसे पाप करा दिया और उसे दुःख दे दिया किसीसे पुण्य करा दिया और उसे सुख दे दिया। प्रभु अपने ज्ञानानन्दानुभवसे च्युत नहीं होता, प्रभु तो शुद्ध है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और जो कर्मसे रहित सारे विश्वका ज्ञायक अपने ही आनन्दरसमें लीन, अपने ही सहजस्वभावके परमविकासरूप जो कि अनाकुलतासे भरा हुआ है, भव्य जीवोंके लिए जो आदर्शरूप है, इसके उत्तरमें केवल यह स्वरूप आता है। जो प्रभुका शुद्धस्वरूप है, मुझे यह बनना है। यों आदर्शरूप है। उस प्रभुमें किसी प्रकारकी मर्जी या योगपरिस्पंद, क्रिया कला कुछ भी जोड़ देना यह ईश्वर के स्वरूपका अपमान है, उनके स्वरूपको हलका बना देनेकी बात है। उस स्वरूप की वहां महिमा नहीं रहती। प्रभुपरमात्मा शुद्ध है, निर्मल है, केवल है, शुद्ध है।

प्रभुकी विविक्तता— अब इसके बादमें चौथा विशेषण आ रहा है कि वह विविक्त है। विविक्त शब्द बना है वि उपसर्गपूर्वक विच्लृ धातुसे। विच्लृ धातुका अर्थ है द्वैधीकरण, दो टुकड़े कर देना। तो यह प्रभु संसार अवस्थामें द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्ममें मिलाजुला था, एक पिण्डरूप हो रहा था। अब वह विविक्त हो गया है अर्थात् जिन परिणतियासे मिला हुआ था उन सबसे न्यारा हो गया है। इस रूपसे देखा जा रहा है, वही स्वरूप जो पहिलेके विशेषणों द्वारा देखा है। किन्तु ऐसे भिन्न-भिन्न

विशेषण इसलिए दिए जा रहे हैं कि उनकी पहिली अवस्था, वर्तमान अवस्था सब कुछ जाहिर हो जाय। यह प्रभु पहिले संयुक्त था अब विविक्त हो गया। पर व परभावमें जो संयुक्त है वह संसारी है और जो इससे विविक्त है वह प्रभु है। इस तरह परमात्माके वर्णनोंमें यह विविक्त विशेषण है।

प्रभुता-- परमात्मा प्रभु कहलाता है। प्रभु शब्दमें दो शब्द हैं, प्र और भु। प्र का अर्थ है उत्कृष्ट और भू का अर्थ है होने वाला। जो उत्कृष्ट रूपसे हो उसे प्रभु कहते हैं। परमात्मामें ज्ञानदर्शन, आनन्दशक्ति ये सब हैं, उत्कृष्ट रूपसे हैं। परमात्माका नाम अव्यय भी है। जिसका कभी व्यय न हो उसे अव्यय कहते हैं। ससारकी दशाओंका व्यय हो रहा है। नरक तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन पर्यायोका विनाश हो रहा है, किन्तु सर्वकर्मोंके क्षयके कारण जो एक उत्कृष्ट गुण विकासको अवस्था हुई है जिसका कि नाम परमात्मत्व है उसका कभी विनाश नहीं होता। इस कारण परमात्मा अव्यय कहलाता है।

परमेष्ठिता-- परमात्माको परमेष्ठी भी कहते हैं। जो परमपदमें स्थित हो उसे परमेष्ठी कहते हैं। जीवका परमपद वीतराग निर्दोष गुण विकास ही है। इसके अतिरिक्त जितने भी अन्यभाव हैं वे सब विभाव हैं, निकृष्ट हैं, जीवके विपरीत है। ऐसे निर्दोष वीतराग सर्वज्ञके उत्कृष्ट पदमें जो ठहरा हुआ है उसे परमेष्ठी कहते हैं।

परात्मा एव परमात्मा-- परमात्माका नाम परात्मा भी है। पर का अर्थ है उत्कृष्ट। उत्कृष्ट आत्माको परात्मा भी कहते हैं। यह प्रभु उत्कृष्ट है जो समस्त विश्वको जानते हुए भी रागद्वेषकी तरगमें नहीं आता है और अपने आनन्दरसमें लीन होता है। ऐसा जो उत्कृष्ट आत्मा है वह परमात्मा है। परमात्माका तो अर्थ बनाया ही गया है। मा विशेषण और लग गया। उत्कृष्ट लक्ष्मी जहां हो उसे परमात्मा कहते हैं।

ईश्वर-- परमात्माको ईश्वर भी कहते हैं। ईश्वरका अर्थ है जो अपने स्वाधीन ऐश्वर्यसे युक्त हो उसे ईश्वर कहते हैं। ऐश्वर्य नाम उसका हैं जहां दूसरेका मुख न देखना पड़े। ऐसा ऐश्वर्य है ज्ञातृत्व, जाननरूप ऐश्वर्यकी उत्पत्ति इस ज्ञानमें है, ज्ञाताके द्वारा ही है, ज्ञातासे ही है, ज्ञाता के लिए है। जो आत्माका यह शुद्ध कार्य है उस कार्यमें परकी आधीनता नहीं है। रागादिक भाव, विषयकषायोंके परिणाम, लौकिकयश प्रतिष्ठाके बड़प्पनका भाव ये सब कर्मविपाकका निमित्त पाकर होते हैं इस कारण यह ऐश्वर्य नही कहलाता है। ऐश्वर्य तो वह है जो सहज है, निर्दोष है,

अपने आपके सत्त्वके कारण है। ऐसा ऐश्वर्य है आत्माका ज्ञान। इस ज्ञान ऐश्वर्यकरि यह आत्मा सम्वेद रहा है, इसका नाम ईश्वर है।

जिनरूपता — परमात्माका नाम जिन भी है। जिसने पंचइन्द्रिय का विजय किया उसका नाम जिन हुआ। इन्द्रियका विजय होना है— द्रव्येन्द्रिय,भावेन्द्रिय और विषयभूत पदार्थोंसे भिन्न ज्ञानस्वभावकरि अधिक इस निज आत्मतत्त्वकी दृष्टि करनेसे। इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति तीन हेतुवों से होती है। प्रवृत्तिमें द्रव्येन्द्रिय पुष्ट चाहिए और विषयभूत साधना सामने चाहिए और इसका उपयोग भी उसमें लगना चाहिए। इस उपयोग का नाम है भावेन्द्रिय और शरीरकी इन्द्रियका नाम है द्रव्येन्द्रिय और विषयभूत साधनका नाम है विषय। इनसे विविक्त शुद्ध चिद्रूपके दर्शनसे इन्द्रियविजय होता है।

इन्द्रियविजयका उपाय— भावेन्द्रिय खण्डज्ञान रूप है। ज्ञानस्वभाव अखण्ड है और ज्ञानस्वभावका जो शुद्ध परिणमन है वह भी अखण्ड है, मर्मात्मक है, किन्तु क्षायोपशमिक अवस्थामें जो भावज्ञान चलता है, भावेन्द्रियरूपसे ज्ञानकी वृत्ति होती है वह सब खण्डज्ञान है। प्रभु पुद्गल को सर्वरूपसे एक समयमें निहारते हैं पर हम आप स्कन्ध पुद्गलको जब रसरूपसे निहारते हैं तब रूप, गंध, स्पर्शसे नहीं निहार पाते हैं। किसी चीजको छुवा तो स्पर्शके रूपसे देखते हैं रसादिकके रूपसे नहीं निहार सकते हैं। चारोंका ज्ञान अथवा विषयभूत पांचोंका ज्ञान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इनका ज्ञान एक साथ नहीं होता। एक समयमें एक स्वरूपका ज्ञान होता है इसलिए यह खण्डज्ञान है।

एककालमें इन्द्रियोंकी एक विषयता— कभी कोई लम्बे, चौडे रेन व तेलके पापड़ बनाए और खाये तो उसे भले ही लगता हो कि मैं रस चख रहा हूं, रूप भी देख रहा हू, उसका गंध भी सूँघ रहा हूं, स्पर्श भी हो रहा है और कुड़कुड़ाहटके शब्द भी सुनाई दे रहे हैं किन्तु इन पांचोंके ज्ञानमे भी कौवाकी आंख फिरन जैसा अन्तर है। यह जल्दी-जल्दी मन चलता है और उस तीव्र गतिमें यह विदित नहीं होता कि क्रमसे जान रहा हु किन्तु भावेन्द्रियका स्वरूप ही क्रम-क्रमसे जाननेका है। जैसे ५० पानों की गड्डी रखी है और उस पर कोई बडे वेगसे सूई चुभोता है तो भले ही ऐसा लगे कि एक साथ ही पचासों पान भिद गए पर सूई जब पहिले पान को छेद रही है उसी समय दूसरे पानको नहीं छेद रही है। ऐसे ही इन विषयोंका ज्ञान मनोवेगसे शीघ्र ग्रहणमें हो रहा है परन्तु क्रम वहां भी है।

अखण्ड, चेतन व असत आत्मस्वभावके आश्रयका प्रताप— ज्ञानी

जीव अपनेको अखण्ड ज्ञानस्वभावी देखता है। अखण्डज्ञान वाला निहारता है और ऐसी अखण्ड ज्ञानमय अपनी प्रतीति रखनेसे इस खण्डज्ञान पर विजय होती है। ऐसे ही ये द्रव्येन्द्रिय आंख, नाक, कान वगैरह पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, किन्तु मैं चेतन हूं। सो अपने आपके चैतन्य भाव के अनुभव द्वारा इन द्रव्येन्द्रिय पर विजय करता हूं। ये विषयभूत पदार्थ संग हैं। प्रसंगमें आते हैं तो ग्रहणमे होते हैं, किन्तु मैं आत्मा सदा असंग हूं। कितने ही परिवारके बीच होऊँ, कितने ही मित्रजनोंके मध्य होऊँ और कितनी ही उल्झनों और सम्पदावोंके मध्य होऊँ, फिर भी मैं सबसे असंग हू, किसी भी परतत्त्वमें मिला जुला नहीं हूं। ऐसी अपने आपकी असंगपनेकी भावनासे इन विषयोंको जीता जा रहा है। प्रभु परमात्मा सर्वप्रथम इन्द्रियविजयी हुए हैं पश्चात् मोहविजयी हुए हैं, इस कारण उनका नाम जिन पड़ा। पश्चात् कषायविजयी हुए सो जिन नाम पड़ा। फिर समस्त कषायोंको जीत लिया। सो परमात्मा जिन कहलाता है।

प्रभुके अनेक नाम व अजरत्व— भैया! प्रभुके थोडेसे नाम बताये गए हैं। यों तो हजारों नाम उनके लिए जा सकते हैं, और १००८ नाम तो सहस्र नामके श्लोकोंमे निबद्ध हैं। उनमें जितने प्रभुमें गुण हैं, जितनी करामात हैं उन गुण और करामातोंकी दृष्टि पर प्रभुके नाम चलते हैं। जैसे प्रभु अजर हैं, प्रभुमे कभी बुढापा नहीं आता। अरहतदेवका तो परमौदारिक शरीर है। अरहंत होनेसे पहिले कोई मुनि बूढा हो तो अरहंत होने पर बुड्ढा नहीं रहता या किसीके फोडा फुन्सी निकली हो या कुष्ट रोग हो गया हो या किसी कारण कुछ कमर टेढी हो गयी हो और अरहंत हो जाय और ऐसा ही शरीर अरहंत होनेके बाद रहे तो कितना अटपटासा लगेगा। ये भगवान् टेढी कमरके हैं, भगवान्की पीठमे फोड़ा निकला है ऐसा कुछ रूपक समझमें भी नहीं आता और चित्त कुछ गवाह भी नहीं देता। भगवान सब एक प्रकारके हैं। भले ही उनकी बनावटमें थोड़ा अन्तर हो पर वह अन्तर इस तरहका होना है जैसे पाषाणसे मूर्ति बनाते हैं तो एक मूर्तिसे दूसरी मूर्तिकी भी शकल नहीं मिलती। मगर मोटे रूपसे एकसा ही आकार है। यदि भगवान बूढे हो तो लोग कहें कि अब बूढे भगवान जा रहे हैं, तो यह कुछ भगवत्ता नहीं जाहिर हुई, परमौदारिक शरीर ही तो है जो युवा जैसा पुष्ट शरीर है, नीरोग है, सर्व प्रकारके धातु उपधातुसे रहित है सो अरहंत भी अजर है और सिद्ध भगवान्के तो शरीर ही नहीं है। कहां विराजेगा यह बुढापा?

आत्माकी अजरस्वरूपता— भैया! प्रभुके तो अजर ही है और

ऐसा ही अजर स्वरूप जहां बुढ़ापा नहीं है हम और आपमें विराजता है। कैसी ही वृद्धावस्था हो गयी हो, दांत टूट गए हों, कानोंसे कम सुनाई देता हो, लार थूक भी मुँहमें न थम सकना हो, चाल भी चलते न बने, पैर भी कहींके कहीं उठें, कैसे भी स्थिति हो शरीरकी, वह तो इस शरीरका ख्याल छोड़कर क्योंकि शरीरमें आत्मस्वरूप नहीं व आत्मामें शरीर स्वरूप नहीं, दोनों पृथक सत् हैं, जो इस देहकी सुध भूलकर अपने आपके स्वरूपमें दृष्टि लगाए तो वह भी अपनेको बूढ़ा अनुभव नहीं कर सकता। प्रभु तो व्यक्त अजर हैं।

प्रभुका अमरत्व— प्रभु अमर हैं उनका कभी मरण नहीं होता है। अरहंत भगवानके मरण तो होता है, आयुका क्षय उनके भी है पर उनके मरणका नाम है पंडित-पंडितमरण। जिस मरणके बाद जन्म न हो उस मरणका नाम मरण नहीं है। मरण वस्तुतः उसे कहेंगे जिसके बाद नया जन्म हो। अरहंत भगवान्के पुनः जन्म नहीं होता। सो अरहंत भी अमर हैं। सिद्धके तो शरीर ही नहीं है तो मरण कहां विराजेगा? वे भी अमर हैं। अब जरा अपने स्वरूपको निहारो तो यह स्वरूप भी अमर है। जीवों को मरणका भय सबसे बड़ा भय रहता है। पर मरणका भय तब तक है जब तक इस जीवने बाह्यपदार्थोंमें अपनी ममता बनायी है अथवा अपने आपमें धर्मसेवन नहीं किया है।

मरणभयके कारण— भैया! अज्ञानी जीवको तो मरणका नाम सुनकर यों भय हो जाता है कि हाय अब यह सब मौज छूटा जा रहा है, ये समागम छूट जायेंगे, ये बाल बच्चे परिवार ये सब छूट जायेंगे। कितनी मेहनतसे यह मकान बनाया, इतनी बड़ी जायदाद खड़ी की और यह सब छूटा जा रहा है—इस ख्यालसे उस अज्ञानीको मरणका भय बढ़ जाता है। और ज्ञानी हुआ तो मरणका नाम सुनकर यदि कुछ खेद आयेगा तो इस बातका आयेगा कि अहो जिन्दगी व्यर्थ बीत गयी। मैं आत्मदृष्टिरूप धर्मका सेवन नहीं कर पाया और बिना धर्मके यह जीवन चला गया, इस बातका उस ज्ञानीको खेद होता है।

ज्ञाताके मरणभयका अभाव— जिसने अपने जीवनमें धर्मकी साधनामें दृढ़ता की है उसे मरण समयमें किसी भी प्रकारका खेद नहीं होता है। वह तो जानता है कि जैसे पूरेके पूरे हम यहां हैं वैसे ही पूरेके पूरे हम जहां कहीं भी जायेंगे वहां रहेंगे। वह अपने परिपूर्ण आत्मतत्त्व को अपनी दृष्टिमें लेता है। जैसे किसी बड़े आफिसरका तबादला हो तो उसे बड़ी सुविधा दी जाती है। एक मालगाड़ीका डिब्बा भी मिलता है।

यहां भी नौकर चाकर, जहां पहुंचेगा वहां भी नौकर चाकर। जैसा प्रेम यहांके लोगोंसे रह आया वैसा ही प्रेम जहां जायेगा वहांके लोगोंसे होगा। ऐसा जानकर वह हुकुम भर दे देता है कि वहां चलना है। लो सारा सामान चकिया चूल्हा, गाय, बछिया तक सब नौकर चाकर उसके संग लिए जा रहे हैं। जहां वह पहुंचेगा वहां भी व्यवस्था होगी, सत्कार होगा। जहां इतने सब साधन मिल रहे हैं वहां ऐसे आफीसरको तबादले के समय क्लेश काहेका होगा ? ऐसे ही ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा तबादला हो रहा है. मैं स्वगुणपर्यायात्मक हूं, सो सर्व स्वगुणपर्याय सहित जा रहा हूं। उसे क्लेश नहीं होना।

परिपूर्णस्वरूपकी प्रतीति– यह शरीर छूटा तो और शरीर मिलेगा। इस स्थानको छोड़ा तो और स्थान पर पहुंच जायेंगे। यहांका समागम छूटा तो नया समागम मिलेगा। अथवा इस ज्ञानी जीवको यह विकल्प नहीं होता, वह तो यों देखता है कि अपने अनन्त ज्ञानादिक समग्र गुणोंसे परिपूर्ण यह मै लो जा रहा हू और परिपूर्ण ही जा रहा हूं, परिपूर्ण ही रहूंगा। जो मेरा न था वह मेरे साथ न जायेगा। जो मेरा है वह मेरे से कभी छूट नहीं सकता। ये ज्ञानादिक मेरे हैं सो आगे भी सदा साथ रहेंगे। ये समस्त पुद्गल द्रव्य अथवा अन्य भाव द्रव्य ये यहा भी मेरे नहीं हैं तो आगे भी मेरे न होंगे, ऐसा जानकर इस ज्ञानीको मरण समयमे कोई कष्ट नहीं है।

समाधिमरणकी साधना— भैया मरण समयकी साधना बना लेना सर्वप्रथम कर्तव्य है अन्यथा जिन्दगी भर तो किया सब कुछ और मरण समयमें रहा संक्लेश तो सब करा कराया व्यर्थसा हो गया। सबसे बड़ा काम यह पड़ा है कि जीवन भर अपने आपका ऐसी ज्ञान और नीतिमें लगावे कि मरण समय वेदनाका अनुभव न हो। विषय कषाय न जगें, ममताका प्रादुर्भाव न हो और अपने इस चैतन्यस्वरूपको निहारें, जिसके प्रतापसे देहसे छुटकारा मिले। यह चीज जिन्हें मिली है उन्होंने तो सब कुछ कमाया और एक यह न मिली तो उसने कुछ नहीं किया।

परमात्माके नामोसे परमात्माकी विशेषतावोंका परिचय– परमात्मा के अन्य अनेक नाम हैं। आप परमात्माके नाम लेते जाइए व विशेषता जानते जाइये, परमात्मा अक्षय है और रागरहित है, सर्वप्रकारके भयोंसे परे है, इसमे रंच विकार नहीं हैं, अविकार हैं, निश्कलंक है, अशक है, निरञ्जन है, सर्वज्ञ है। जितने भी भगवान्के गुण हैं उन रूप नाम लेते जाइए, ये सब परमात्मा की विशेषतायें हैं।

अन्तः परमात्मत्व— समाधितन्त्रमें सर्व प्रथम यहांसे वर्णन उठाया है कि लोकके सब जीवोंमे ३ प्रकारके जीव मिलेंगे बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा। इनमें उत्कृष्ट आत्मा है परमात्मा और परमात्माकी भी जाति आत्मा और अन्तरात्माकी भी जाति आत्मा। इसलिए यह मैं भी बहिरात्मापनको छोड़कर परमात्मत्व प्राप्त कर सकता हूं। परमात्मा होने के लिए कोई नई चीज नहीं लानी पड़ती है किन्तु जो नई बात लगी है उस को मिटाना पड़ता है। परमात्मत्व तो स्वरूप ही है। जैसे चौकीको शुद्ध करने के लिए कोई उसमें नई चीज नहीं लगानी पड़ती है किन्तु जो चीज लगी है बीट है, मल है, जो चीज दूसरी लगी है उसको मिटानेकी जरूरत है, चौकी शुद्ध हो जायेगी। इसी तरह आत्माको शुद्ध करने के लिए कोई नई बात नहीं करनी पड़ती है किन्तु जो भूलमें नये काम कर डाले हैं उन कामोंको दूर करना है। इसका स्वरूप ही परमात्मापन का है।

अज्ञानमें अटपट नई बातें— भैया! बतावो इस अज्ञानी ने नए काम क्या कर डाले? जो इसके स्वभावमे नहीं हैं, जो इसके सत्त्वके कारण नहीं हैं और लग गयी हैं वे सब नई बातें हैं। अनादि कालकी पुरानी होकर भी यह नई बात है क्योंकि स्वरूपमें नहीं है। रागद्वेष, विषयभोग कषाय, ये सब आत्माके स्वभावमे नहीं हैं, ये परम्परासे लग रहे हैं अनादि से, पर इतने पुराने होते हुए भी चूँकि जब आते हैं तब यों ही आते हैं, स्वरूपसे नहीं आते हैं। तो इन लगे हुए उपद्रवोंको दूर करने से यह परमात्मत्व प्रकट हो जाता है।

ज्ञायकत्वकी टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चलता— जैसे कोई कारीगर पत्थर की मूर्ति बनाता है तो कारीगर वहां कुछ नई चीज नहीं लगाता है किन्तु जो प्रकट की जाने वाली चीज है, वे अवयव, अभी भी मौजूद हैं, कारीगर को दिख गये। अब कारीगर उस भीतर पड़ी हुई मूर्तिके आवरक जितने पाषाण खण्ड हैं, जो आवरण किए हुए हैं उनको दूर करता है। करता कुछ नहीं है नई बात किन्तु जो आवरक हैं उन्हें दूर करता है। उन पत्थरों को दूर करते-करते जब सब आवरण दूर हो जाते हैं, सूक्ष्म आवरण भी दूर हो जाते हैं तब वह मूर्ति प्रकट हो जाती है। यों ही इस परमात्मस्वरूप पर विषय-कषायोंके आवरण लगे हैं। ज्ञानकी हथौड़ी, ज्ञानकी छेनीसे ज्ञान रूप कारीगर जब उन आवरणों को हटा देता है तो जो है स्वभावतः वही प्रकट हो जाता है, यही परमात्मस्वरूप है।

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

त्रिविध आत्माके स्वरूपके विवरणमें क्रम— बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनोंको बतानेके प्रकरणमें सबसे पहिले परमात्माका लक्षण किया, क्योंकि परमात्माके सम्बधमें थोड़ा ही कहना था। बनना है परमात्मा। उसका उपाय है अन्तरात्मा होना, इसलिए अन्तरात्माका वर्णन बहुत अधिक होगा और बहिरात्माका जो वर्णन किया जाता है उस से भी अधिक होगा। बहिरात्माका वर्णन परमात्मासे कुछ अधिक किया जायेगा। इस क्रमके अनुसार अब बहिरात्माका लक्षण किया जा रहा है, बहिरात्माकी विशेषता बतायी जा रही है।

बहिरात्माकी वृत्ति— ये बहिरात्मा जीव इन्द्रियोंके द्वारसे बाहरकी ओर उपयोग दौड़ाता है और आत्मज्ञानसे पराङ्मुख हो जाता है और विषयोंमें स्फुरित होता है, जागरूक, सावधान, सजग रहता है और इस पद्धतिमें यह मिथ्यादृष्टि जीव अपने देहको आत्मरूपसे निर्णय कर लेता है। लोग तो इन इन्द्रियोंसे बड़ी प्रीति करते हैं क्योंकि उनके जाननेका साधन इन्द्रियां हैं, उनके आनन्दका साधन इन्द्रियां हैं, किन्तु ये इन्द्रिय-साधन ज्ञानके परमार्थतः बाधक हैं और इन्द्रियां आनन्दके साधक नहीं हैं, परमार्थतः आनन्दके बाधक हैं।

इन्द्रिय द्वारोंकी प्रतिबन्धकता— जैसे एक कमरा है, उसमें चार, पांच खिड़कियां हैं, उन खिड़कियोंके अतिरिक्त सब जगह भींत ही भींत बनी हुई है, अब उस कमरेमें रहने वाला व्यक्ति उन खिड़कियोंके द्वारसे देख सकता है। सो वह व्यक्ति भले ही ऐसा माने कि इन खिड़कियोंने मुझे बाहरकी बात दिखा दिया। वे खिड़कियां साधक हैं या बाधक ? परमार्थतः उसे ज्ञान होना था सब ओरसे किन्तु भींतका आवरण होनेसे अब वह केवल खिड़कियोंसे ही देख सकता है। यदि सारी भींत मिट जाय तो खिड़कियां भी मिट गयीं। खिड़कियां यदि ज्ञानका साधन होतीं तो भींत और खिड़कियां मिट जाने पर फिर ज्ञान न होना था। सो इसी तरह ये अंग इस देहके कमरेकी भींतें हैं। इस कमरेके भीतर कोई पुरुष पड़ा हुआ है और वह इस स्थितिमें इन्द्रियके द्वारसे ही जान सकता है, वस्तुतः इसमें जाननेका स्वभाव सर्व ओरसे है।

खण्डज्ञानके विचित्र द्वार— देखो भैया ! कैसी विचित्र खिड़कियां हैं ये कि कानके द्वारसे हम शब्दोंकी ही बात जान सकेंगे, नेत्रके द्वारसे रूप रंगकी बात ही जान सकेंगे और कुछ नहीं जान सकेंगे। घ्राणसे गंध

ही, रसनासे स्वाद ही और स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श ही जान सकेंगे। नर इसमें कैद पड़ा हुआ है। कहां तो यह ज्ञानमय भगवान् आत्मा जो अपने स्वरूपके कारण ही समस्त विश्वका ज्ञाता हुआ करता है और कहा यहां बंधन, कहा यह कारागार जैसे कैदखाना। इस देहसे यह कैसा बंधा हुआ है, जैसे कि सिंह कटघरेमें पड़ा है, विवश है, पर शौर्य उसमें वही है जो जंगलके शेरमें होता है। इसी तरह हम आप इस देहके कटघरेमें बंद हैं, पर शौर्य स्वभाव हम आपका वही है जो प्रभुका है पर बंधन ऐसा बंधा हुआ है कि यह आत्मा इन्द्रियके द्वारसे जानना है, सो क्या हानि है इससे इसे परखिये।

प्रतिबन्धमें तृष्णाकी उत्कटता— भैया! कुछ प्राकृतिक बात ऐसी है कि रुकावटके साथ जानना हो तो उसमें तृष्णा बढ़ती है और बिना रुकावटके जानना हो तो उसमें तृष्णा नहीं होती है। जैसे किसी बच्चेको ऊधम करनेसे रोको तो उसकी हठ ऊधम करनेकी ही होगी और उससे कहो कि करो खूब ऊधम और ज्यादा ऊधम करो तो उसकी चालमें फरक पड़ जायेगा। बच्चेको कहीं जानेकी इच्छा हो और बहुत रोवे और अपन उसे वहीं रोके रहें तो उसकी यह आंतरिक इच्छा बनेगी कि हमें तो जाना ही है और उसे रुकावट न हो तो थोड़ा चलकर लौटकर वहीं रमेगा। इन्द्रिय द्वारसे जाननेके कारण उसके ज्ञानमें और धैर्यमें रुकावट होती है। ऐसी स्थितिमें जब वह थोड़ा कुछ जानता है तो जाननेकी तृष्णा होगी, कुछ सुख पाया है तो वहां सुख भोगनेकी तृष्णा होगी। भगवान् सर्वज्ञदेव समस्त लोक अलोक द्रव्यगुण पर्याय त्रिकालवर्ती समस्त दशावोंको जानते हैं। इस कारण उन्हें कोई प्रकारका खेद नहीं होता है। खेद मानते हैं कम जानने वाले। सर्व कुछ जाननमें आ गया, अब खेद किस बात पर हो और सर्व कुछ जाननमें आ गया तो आवश्यकता किस बातकी? फिर वह प्रभु निराकुल, शांत वीततृष्ण हो जाता है।

इन्द्रियोंकी प्रीति और मिथ्या आशय— यह बहिरात्मा इन्द्रियोंसे प्रीति किए हुए है। क्यों न करे प्रीति? इसको यह भ्रम हो गया है कि मुझे जितना सुख होता है वह इन इन्द्रियोंके कारण होता है। इस जीवसे मुझे बड़ा सुख ही सुख हुआ करता है। मनमाना आम चखें और नाना व्यञ्जन खावें बड़ा स्वाद आता है, मौज मानते हैं। पर यह जगत घोरखधंधा है। इस सुखाभासमें उलझे तो इसे क्लेश ही क्लेश है। इस सुखाभाससे मुख मोडे और अन्तरमें मैं आनन्दस्वभावी हूं ऐसी पहिचान करे तो इस जीवको अनुपम आनन्द प्रकट हो। पर मोहका ऐसा भूत

नाच रहा है कि हम सब संसारी जीव गम नहीं खाते हैं। मरणके बाद सब छूट जायगा मगर जीवनकालमें इतनी भी भावना नहीं ला पाते कि ये सब छूट जायेंगे। इतना तक भी ख्याल करनेके प्रमादी हो रहे हैं। यदि इतना भी ध्यानमें हो कि यह सारा बखेड़ा छूट ही जायेगा। तो इस भावनामें भी बहुतसी निराकुलता जग जायगी। पर यों ध्यान जाता है कि छूटता है दूसरोंका, हमारा क्यों छूटेगा? ऐसी कुछ कल्पना लिए हुए हैं, अपने आपकी मृत्यु पर विश्वास ही नहीं बनता है। अपने आपकी अनिष्ट बात पर विश्वास ही नहीं आता है। मरते हैं तो कोई दूसरे मरा करते हैं। ऐसा उल्टा देखनेकी चश्मा पाटी लगा रखी है।

क्लेशका कारण उद्दण्डता— ये बहिरात्मा जीव इन इन्द्रियोंके इतने आधीन हैं कि आत्मज्ञानसे ये बिल्कुल विमुख हो रहे हैं। इस जीव का अकल्याण है देहकी वाञ्छा और विषयोंका उपद्रव। तीसरा कोई क्लेश नहीं है। देख लो यह सबसे न्यारा है, ज्ञानादिक गुण सम्पन्न है, मेरा है वह कभी छूट नहीं सकता। जो मेरा है नहीं, वह मेरा कभी हो नहीं सकता। कौनसा क्लेश है? हम आपको बतलावें, पर क्लेश सभी माने हुए बैठे हैं। अभी यह नहीं हुआ, अभी इतना कमती रह गया है। अच्छा धन कम हो जायगा तो उससे क्या बिगाड़ हो जायगा सो बतलावो। आज यह वाञ्छा है कि एक लाख हो जाये तो हम धनी हो जायें। तो क्या यह आशा की जा सकती है कि एक लाख हो जाने पर फिर आगे तृष्णा न रहे या आकुलता न रहे। जितना वैभव होगा उसकी व्यवस्थामें उतना ही मन चलता होगा, उतनी ही दौड़धूप होगी।

यथार्थज्ञान व अज्ञानकी करामातें— भैया! जो यथार्थ निर्णय कर के लौकिक सम्पदाको पुण्योदय पापोदयपर छोड़ते हैं उनसे तो व्यवस्था सहज बनती है और जो कर्तृत्वबुद्धि किए हुए हैं— मैं करता हूं तो होता है ऐसा, मैं न करूं तो कहांसे परिवारका पोषण हो? दूसरे जीवोंसे भाग्य का भरोसा नहीं, इस कारण कर्तृत्वबुद्धि बनाए हुए है। सो पता नहीं कि मालिक बन रहे हैं या चाकर बन रहे हैं। कल्पना तो यह बन रही है कि मैं घरका मालिक हूं और करतूतमें यह बात है कि घरके उन ५, ७, १० आदमियोंका यह चाकर बन रहा है। उनके पुण्यका उदय है सो उन्हें भी तो सुख मिलना चाहिए। उनके सुखमें कोई न कोई निमित्त तो होना ही चाहिए सो वह निमित्त होता है, अथवा न कोई मालिक है, न कोई चाकर है। सबका अपने-अपने भवितव्यके अनुसार सब हो रहा है। कर्तव्य तो अपना यही है कि जो बात दुर्लभ है अन्य भावोंमें नहीं की जा सकती है

ऐसा काम कर जाय तो भला है। विषयोंका पोषण और कषायोंमें गुजारा करना यह तो अन्य भवोंमें भी होता है। होता है उन भवोंमें उन जैसा तब बात तो एक ही है। यदि उन विषयोंमें ही प्रवृत्ति रही तो मनुष्य हुए न हुए बराबर ही तो रहा। कुछ अन्तर भी है क्या ?

नश्वर जीवनमें सर्वोत्कृष्ट लाभ— अहो, दमादम क्षण बीते जा रहे हैं। जैसे पर्वतसे गिरने वाली नदी वेगपूर्वक बही जा रही है तो उसका पानी उलटकर नहीं जाता, इसी तरह आयुके क्षण दमादम बीते जा रहे हैं। कभी भी यह नहीं हो सकता कि जो एक साल व्यतीत हो गया है वह एक साल वापिस हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। समय गुजर रहा है अपनी रफ्तारसे। मृत्युके निकट रोज ही रोज पहुंच रहे हैं। अगर ६० वर्ष जीना है और आज ४० वर्षके हो गए तो अब २० वर्ष ही तो मृत्युके निकट हैं। और ४१ वर्षके हो गए तो १९ वर्ष ही तो मृत्युके निकट हैं। ऐसा होते-होते कभी एक दिन वह भी निकट आ जायेगा और कभी मृत्यु भी हो जायेगी। इस नश्वर जीवनमें सर्वोत्कृष्ट लाभ लो। सर्वोत्कृष्ट वैभव है अपने आपके ज्ञानानन्द स्वभावका जो कि निर्विकल्प है, आनन्दघन ज्ञानसे निर्भर है उसका परिचय होना, दर्शन होना ऐसा जो गुप्त अपने आपमें अपना कार्य है उससे बढ़कर दुनियामें और कोई कार्य नहीं है।

कैवल्यकी महनीयता— हम तीर्थंकरोंको पूजते हैं और भी श्रीराम हनुमान जी आदि जो भी मुक्त हुए हैं उनको भी पूजते हैं, क्या है उनके पास घर भी नहीं रहा, कुटुम्ब भी नहीं है, वैभव भी नहीं है और फिर भी हम पूज रहे हैं तो कुछ तो बात होगी। कुछ क्या उनमें सारी बात है। वे ज्ञान और आनन्दके प्रकट पुञ्ज हैं। इसके अतिरिक्त और क्या चाहिए ? तो यह ज्ञान और आनन्दकी महिमा ज्यों-ज्यों प्रकट होती है त्यों-त्यों इस जीवके आकिञ्चन्य भाव बढ़ता जाता है। मैं देहसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हूं। ऐसे ज्ञानतत्त्वकी उपासनासे अपने आपमें निर्मलता बढ़ती है, कर्म-भार कम होता है और जो यथार्थ ज्ञान है, यथार्थ आनन्द है उसमें प्रवेश होता है।

इन्द्रियोंकी प्रीतिका कारण— बहिरात्मा जीव इन इन्द्रियोंसे इस देहसे अपनी प्रीति बनाए हुए है। जरा सा भींतकी कलईका दाग तो हाथमें लग जाय उसे छुटाए बिना, और ज्यादा नवाब साहब हों तो साबुनसे धोये बिना चैन नहीं पड़ती है। हालांकि ये भी बातें होती रहो, किन्तु भीतरकी रुचि की बात देखो। देह और इन्द्रियसे न्यारा और कुछ मैं हूं ही नहीं, ऐसी धारणा लिए हुए यह बहिरात्मा इन्द्रियके द्वारसे देखता है,

जानता है इस कारण इन्द्रियोंमे ही प्रेम बढ़ाता है और अतीन्द्रिय निर्विकल्प जो अपना स्वभाव है ज्ञानानन्द, उसकी दृष्टि नहीं करता है।

बहिरात्मत्वदृष्टि— बहिरात्मत्वदृष्टिमें फल यह होता है कि जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है तो हड्डीमें कुछ दम नहीं है, हड्डी सूखी है लेकिन चबाने में खुदके मसूड़े फूट जाते हैं और उसका खून स्वादमें आता है तो कुत्ता मानता यह है कि यह स्वाद तो हड्डीसे आया। सो वह उस हड्डीकी रक्षा करता है। एकातमें जाता है, दूसरे कुत्तेसे लड़ता है कहीं यह छुड़ा न ले जाय। यों ही इस बहिरात्मा जीवको जो सुख मिल रहा है वह विषयोंमे नहीं मिल रहा है किन्तु स्वयका जो आनन्दस्वभाव है उसके उपभोगसे सुख मिल रहा है पर मानता यह है कि मुझे विषयभूत पदार्थोंसे सुख मिल रहा है। सो उनके संचयमें, उनकी रक्षामे, उनको एकांतमें सुरक्षित रखनेमें इसका उपयोग जाता है और दुःखी रहा करता है।

रोगपरिचयपूर्वक चिकित्सा— भैया ! यह बहिरात्माकी दशा बतायी जा रही है। जैसे पहिले रोगियोको रोग बताया जाता है दवा पीछे बतायी जाती है। रोगी लोग इसे जानते हैं कि रोगका पहिले निर्णय हो जाय कि वैद्यमहाराज ठीक कहते हैं, इन्होने हमारे रोगको समझ लिया है। तो वैद्य पूछता है कि तुम्हारे पेटमें अफारा रहता है कि नहीं ? अरे अफारा तो सर दर्दमें रहे, पेट दर्दमे रहे, अन्य रोगोमे रहे (हँसी)। तो पहिले यह रोग बताया जाता है, पीछे इलाज बताया जाता है, ऐसे ही आचार्यदेव पहिले रोग बता रहे है कि देखो ऐसी बात है कि नहीं। यह मोही जीव इन्द्रिय द्वारसे जानता है, देखता हैं और बाहरको भागता है, अपनेको रीता रखता है, आत्मज्ञानसे विमुख हो जाता है, विषयोंमें उलझा रहता है। ऐसा प्राणी देहको ही मानता है कि यह मैं हू। और भी विशेषरूपसे यह जीव अपनी देहमे कैसी आत्मीयता रखता है ? इस विषयमे अब आगे कहा जायेगा।

बहिरात्मा जीव अपने आपको किस-किस प्रकार मानता रहता है, इस विवरणको दो श्लोकोंमे बताया जा रहा है।

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥८॥
नारक नारकाङ्गस्थं न स्वय तत्त्वतस्तथा।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसवेद्योऽचलस्थिति ॥९॥

व्यामोहसे आत्मामे नरत्वकी मान्यता— बहिरात्मा पुरुष मनुष्यके शरीरमें स्थित आत्माको मनुष्य मानता है। नरदेह जड़ है, आहार वग-

णाओं के स्कंधोंका पिण्ड है और यह आत्मा चेतन है, ज्ञान दर्शन स्वभावी है, ऐसा अत्यन्त भिन्न है, फिर भी चूंकि उपाधिके वश शरीरके साथ बंधन लगा हुआ है ऐसी स्थितिमें बहिरात्मा पुरुष मनुष्य देहमें रहने वाले आत्माको समझता है कि यह मनुष्य है। मनुष्य पर्यायें जीव, कर्म व शरीर ऐसे अचेतनकी पिण्डरूप पर्याये हैं, इन्हें असमान जातीय द्रव्य-पर्यायें कहते हैं। 'शरीर मैं नहीं हूं. शरीरमें अनुभव नहीं होता है, मुझमें अनुभव होता है। ऐसा प्रकट जुदा हूं, फिर भी मोही जीव देहसे भिन्न आत्माका परिचय नहीं पा सकता और यह मानता है कि मैं मनुष्य हूं।

आये थे हित कामको धोन लगे हैं चाम— जहां मनुष्य शरीरमें आत्माकी बुद्धिकी, शरीरको आपा माना तो फिर शरीरके पोषक शरीरके सम्बन्धी इन सब जीवोंको भी अपना मानने लगा। इस जीवने अपने स्वरूपकी दृष्टिको त्याग दिया और अचेतन पदार्थोंसे यों कहिए सिर मारने लगा—जैसे कहते हैं ना कि 'आये थे हित कामको धोने लगे हैं चाम।' इस मनुष्यभवमें जन्म तो इसलिए हुआ कि अन्य अनेक भवोंमें इस जीवको उद्धारका अवसर नहीं मिलता। एक मनुष्यभव ही संसार-संकटोंसे छुटकारा पानेका अवकाश देता है। सो पा तो लिया मनुष्यभव, किन्तु विषय कषाय मोह राग इनमें ही समय बिताया। आये थे प्रभुभजन को और धोने लगे हैं चाम। शरीरकी परवाह करने लगे हैं, इसको देख कर फूले नहीं समाते हैं।

बाहरी ममता— देखो भैया! कैसी ममता है, बूढ़े भी हो जायें, कपोल भी सूख जायें, हड्डी भी निकल आयें, फिर भी अपना यह शरीर ही प्रिय लगता है। एक तो शरीरकी वेदना नहीं सही जाय यह बात अलग है और शरीरमें ही आपा समझकर उसमें प्रीति बुद्धि की जाय, यह बात जुदा है, जैसे कोयलाको कितना ही घिसो निकलेगा काला ही काला। साबुन लगा दो तो कोयला सफेद नहीं हो जावेगा, ऐसे ही शरीर है, कितना ही इसे सजावो, कितना ही साफ करलो, इसमें असार ही असार बात निकलेगी। अपवित्र गंदी-गदी ही धातु उपधातुयें निकलेंगी। किन्तु वाह रे मोहकी लीला कि इस निज सहजस्वरूपको तो यह आत्मा भूल जाता है और देह ही सार सर्वस्व है ऐसा मानने लगता है।

सकलसंकटोंका मूल— सारे संकट इस बात पर आए हैं कि इसने देहको आत्मा माना है। दुनियामें सम्मान अपमान, प्रशंसा निन्दा, पोजीशन, तृष्णा ये सब भी शरीरको आत्मा माननेके विकल्पपर चलते हैं। जितने भी संकट हैं सर्वसंकटोंका मूल देहको आत्मा मानना है। ये बहि-

रात्मा जीव अपनको मान रहे हैं कि मैं मनुष्य हूं। मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं? शरीरोंकी कितनी विभिन्नता है कि सूक्ष्म स्थूल भेद करके शरीरों की जातिया १२ लाख, करोड़ हो जाती हैं। जो जीव जिस देहमें जाता है उस देहमें ही इसकी ममता जग जाती है, यों ही जब यह तिर्यञ्च की देहको धारण करता है तो अपनेको तिर्यञ्च मानने लगता है।

पर्यायव्यामोह— एक कथा प्रसिद्ध है कि राजाने मुनिसे पूछा कि महाराज मैं मर कर क्या बनूँगा? मुनि अवधिज्ञानी थे। सो उन्होंने बताया कि तुम अमुक दिन इतने बजे मरोगे और अपने घरके संडासमें कीड़ा बनोगे। राजाको बड़ा खेद हुआ। कहां तो मैं राजा, लोग हजूरीमें आते हैं। इतना मेरे ऐश्वर्य हैं और कहां मरकर मैं मलकीट बनूँगा, तो पुत्रोंको हुक्म दिया कि देखो इतने समय पर अमुक दिन अमुक स्थानपर मैं मरकर मलकीट बनूँगा सो तुम हमे वहां आकर मार डालना क्योंकि वह बहुत बुरी पर्याय है। वह राजा मरकर उसी स्थानपर मलकीट हुआ, पुत्र पहुंचा उस कीटको मारने के लिए तो वह कीट डरके मारे मलमे ही घुस गया। तो राजपुत्र जाकर मुनिसे पूछता है कि महाराज मेरे पिता यों कह गए थे, सो मैं वहां मारने पहुंचा तो वह कीट जान बचाकर मलमे घुस गया। मुनि कहता है कि जगत्के मोही जीवोंको ऐसी ही परिस्थिति है। वह जिस देहको धारण कर लेता है उस देहमें ही रम जाता है। गधा सूकर और भी निद्य पशु कौवादिक पक्षी बन गया तो यह अपने ही शरीर से प्रीति करने लगता है।

मोहियोंका व्यामोह— भैया! जो काम बडे मोही प्राणी कर रहे हैं वही काम गधा सूकर भी कर रहे हैं। विषयोका सेवन करना और शरीर में आपा मानकर मस्त बने रहना यह काम सूकर भी करते हैं, यह काम मनुष्य भी करते हैं, यही काम संसारके अनेक जीव करते हैं। कोई मन-वाले तिर्यञ्च हैं तो वे भी सोच समझ सकते हैं—मैं यह हूं। कोई मन वाला नहीं है तो वह सञ्ज्ञियोंकी तरह विकल्प नहीं कर सकता। फिर भी शरीरमें आपा मानता है। ऐकेन्द्रिय पेड़ आदि ये भी अपने शरीरको आत्मा मानते हैं। जितना उनमें ज्ञान है उसके अनुसार वे अपनी देहमें ही आसक्त हो रहे हैं। जिस भवमें जाता है उसही भवके अनुसार इस जीव की प्रकृति बन जाती है। आज मनुष्य हैं सो पलंगमें गद्दा बिछाकर सोते हैं और आसपास सुहावनी वस्तुयें भी लगा लेते हैं और मरकर गाय बैल हो गए तो जैसी जमीन मिली, गोबर मिट्टी, कीचड़से भरी उसीमें पड़ गए। पर पर्याय ऐसी है कि वहा भी इसी तरह रम जाते हैं।

व्यामोहसे आत्मामें तिर्यञ्चरूपकी कल्पना— यह बहिरात्मा जीव कैसा परतंत्र और दीन बन रहा है अपने आपके स्वरूपकी संभालके बिना तिर्यञ्चकी देहमें पहुंचता है तो यह जीव अपनेको तिर्यञ्च मानता है। न शब्दोंसे माने, पर जो देह धारण किया तद्रूप ही अपनेको मान डालता है। भ्रमका क्लेश बहुत बड़ा क्लेश होता है। भ्रममें कुछ सूझता ही नहीं है। रागद्वेषमें तो फिर भी अक्ल ठिकाने रहती है किन्तु मोहमें, भ्रममें, मिथ्यात्वमें बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है।

अगृहीत व गृहीतमिथ्यात्व— ये सब अगृहीत मिथ्यात्वकी बातें चल रही हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रको देव, शास्त्र, गुरु मानना यह सब है गृहीत मिथ्यात्व। जिन जीवोंके गृहीत मिथ्यात्व है उनके अगृहीत मिथ्यात्व तो है ही, पर ऐसे भी जीव बहुतसे हैं कि जिनके अगृहीत मिथ्यात्व तो है और गृहीत मिथ्यात्व नहीं है। देह और जीवको एक माने यह है अगृहीत मिथ्यात्व। इसके वश अज्ञानी जीव परतन्त्र हो रहे हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रको गुरु मानना यह सिखाई हुई बात है, दोस्त सिखा दें, माता पिता सिखा दें, सिखाई हुई बात है पर शरीरको आपा मान लेना यह किसी की सिखाई हुई बात नहीं है, इसमें यह प्रकृत्या चल रहा है।

भवकी अनुसारिणी प्रवृत्ति— यह बहिरात्मा जीव तिर्यञ्चके शरीरमें पहुंचता है तो यह अपने को तिर्यञ्च मानने लगता है। कैसी-कैसी विलक्षण दशाएँ हो जाती हैं। जीव वही एक है। आज मनुष्यभवमें मनुष्य जैसा शरीर मिला और मरकर हो गए सांप गुहेरे छिपकली तो उन जैसा ढांचा उन जैसा चलन फिरन, सब वैसी ही बातें हो जाती हैं। भैया! अपनने यहां कोई ऐसी महत्त्वकी चीज नहीं पा ली है धन वैभव समागम परिचय, जिनमें कि आसक्त रहा जाय, मस्त रहा जाय। ये जितने काल हैं उतने काल भी भिन्न हैं और वियोग तो होगा ही। जिनको समझते हैं कि मेरे घरके हैं उनके अर्थ तो तन, मन, धन, वचन जो कुछ भी पाया है सब स्वाहा कर देता है और यह खुद बन जाता है रीताका रीता ही।

नश्वर समागमका सदुपयोग— भैया! यहां तो यह सब मुफ्त ही मिला और मुफ्त ही जायेगा। विवेकी पुरुष वह है कि मुफ्त मिला है तो इसका सदुपयोग कर जाय। जिनमें मोह है ऐसे मोही पुरुषोंमें अपना धन खर्च करता जाय तो यह उदारता नहीं है और लोभका त्याग नहीं है किन्तु जिनसे सम्बन्ध नहीं है उन दीन दुःखी गरीबोंके लिए कुछ व्यय हो अथवा जीवोद्धार धर्मके कोई काम हों और उनमें व्यय हो तो समझो कि मुफ्त मिली हुई चीजका हमने सदुपयोग किया।

सत्कर्तव्यकी प्राथमिकता— एक मनुष्यको एक वर्षको तो लिखे गये भाग्यमें अच्छे दिन, सम्पदा मिले, भोग मिले, आराम मिले, और मानलो कि ५६ सालको मिले दुःखके दिन। तो मिल जाने दो, अगर बुद्धिमानीसे काम लिया तो वह यह करेगा कि पहिले सुखका वर्ष मांग लेगा, बाकी वर्ष फिर बितायेगा। सुखके वर्षमें विषयोंकी आकांक्षा न रख कर तप, दान, संयम, त्याग परोपकार सेवा इनमें ही व्यतीत करेगा। ऐसी विशुद्ध करनीसे पापकर्मोका सक्रमण हो जायेगा और बाकी वर्ष भी उसके अच्छे गुजर जायेंगे। वर्तमान परिणाम सभाला तो समझ लीजिए कि हमने अपना सारा भविष्य सभाल लिया। बने रहने दो पाप कर्म भव-भवके बांधे हुए, कुछ हर्ज नहीं है। किन्तु वर्तमानमें परिणाम निर्मल हों, शुद्ध ज्ञान भावना हो तो उसके प्रसादसे सर्व पाप कर्म दूर हो जाते हैं।

ज्ञानकला— जैसे कोई समर्थ अधिकारी है और दूसरे लोग गड़बड़ करें तो वह देखता रहता है। क्या हर्ज है, करने दो। जिस समय चाहेगा उसी समय वह मिटा सकता है। यों ही इस ज्ञानी जीवके भी पूर्व भवोंके बांधे हुए पापकर्म इकट्ठे हैं, तो रहने दो। जान रहे हैं ज्ञानी कि ये पृथ्वी पिण्डके समान है। यदि वर्तमानमें निर्मल परिणमन हो तो उन कर्मोंमें भी फेर हो जायेगा। इससे इन सर्व संकटोंसे बचनेका उपाय मात्र आत्मा को आत्मारूपसे परख लेना है।

मूल भूलपर भूलके पूल— यह व्यामोही आत्मा तिर्यञ्चकी देहमें पहुचता है तो अपनेको तिर्यञ्च मानता है, देवके शरीरमें पहुंचता तो अपनेको देव मानता है। यह सुधि भूल जाता है कि मैं परमार्थ सत् अखण्ड अव्यावाध एक चेतन तत्त्व हू। मूल बात भूल जाने पर फिर ऊपरकी जितनी क्रियाएं होती हैं वे सब भूल वाली होती हैं। जैसे औंधी डेगची धर देने पर ५, ७ डेगची धरें तो औंधी ही धरी जायेगी और सीधी पतीली रखने पर सीधी ही उसके ऊपर धरी जावेगी। ऐसे ही मूलमें सम्यग्ज्ञान होने पर जो हमारी वृत्तियां होंगी वे ज्ञानपूर्ण होंगी और मूलमें अविद्या भरी रहने पर जो वृत्ति होगी वह सब भूलभरी होगी। तो देहको आपा मान लेना यह सबसे बड़ी भूल है और इस भूलके होने पर फिर सारी विडम्बनाएँ लग जाती हैं।

अपूर्व कार्यके लिये प्रेरणा— भैया! सभा सोसाइटियोंमें इज्जत पानेकी गोष्ठीमें अपने आपकी पोजीशन बढाने आदिकमें जैसा श्रम किया जाता है, हित माना जाता है। तो जहां पचासों काम कर डाले हित के ख्यालसे वहा एक काम यह भी तो करके देखो कि अपने सहजस्वरूपको

परमार्थ जानकर बाह्य विकल्पोंको त्याग दें और परम विश्रामसे स्थित हो जायें, ऐसी स्थितिमें जो आनन्द प्रवाह बढ़ेगा उस अनुभवके बलपर इसे सम्यक्त्व होगा, चारित्र बढ़ेगा व मोक्षमार्गमें चलेगा। इसके सब संकट अब दूर होनेका समय आ गया ऐसा जानना चाहिए।

बहिरात्मवृत्ति प्रदर्शन— यहां बहिरात्मावोंकी वृत्ति दिखाई जा रही है कि वे यह करते क्या हैं ? जिस देहमें पहुंचा, जिस भवके शरीरमें पहुंचा उस भवके शरीररूप ही यह अपनेको मानने लगता है और ऐसा माननेसे इसपर सर्वसंकट छा जाते हैं। अब बहिरात्माकी प्रवृत्तिमें और आगे जो शेष रहा है इसी प्रकारसे उसे कहेंगे।

नारकत्वव्यामोह नरकरचना— पर्याय व्यामोही, अज्ञानी पुरुष जिस जिस पर्यायमें पहुंचता है उस उस पर्यायको आत्मारूपसे मानता है। जब यह नारकीके शरीरमें पहुंचता है तो नारक देहमें रहने वाले अपने आत्माको यह नारकी मानता है। नारकी जीव नीचे सात पृथ्वियोंमें रहा करते हैं और उन पृथ्वियोंके मध्यमें हजारों लाखों मीलके लम्बे चौडे बिल हैं। जिस जमीन पर हम आप रहते हैं यह एक पृथ्वी है। इस पृथ्वीके नीचे तीन हिस्से हैं। तो ऊपरके दो हिस्सोंमें भवनवासी और व्यंतरके देव रहते हैं, तीसरेमें नारकी रहते हैं। उसके नीचे कुछ आकाश छोड़कर एक पृथ्वी और लग गयी है उसमें दूसरे नरकके नारकी रहते हैं। फिर उससे नीचे कुछ आकाश छोड़कर तीसरी पृथ्वी है, उसमें तीसरा नरक है, उस के नीचे कुछ आकाश छोड़कर चौथी पृथ्वी है उसमें चौथा नरक है, फिर कुछ आकाश छोड़कर ५वीं पृथ्वी है उसमें ५वां नरक है। फिर कुछ नीचे नीचे कुछ आकाश छोड़कर छठी पृथ्वी है उसमें छठा नरक है, फिर कुछ आकाश छोड़कर नीचे ७वीं पृथ्वी है, उसमें ७वें नरकके नारकी हैं।

पृथ्वियोंका आधार— सातवीं पृथ्वीके नीचे केवल हवा-हवा है, वातवलय है। उन वातवलयोंमें स्थावर जीव हैं और मुख्यतया निगोद जीव हैं। लोग कहा करते हैं कि यह पृथ्वी शेष नाग के फनपर सधी हुई है। शेषनागका अर्थ क्या है ? कोई सर्प नहीं है जो फन वाला हो। यदि ऐसा हो तो कभी फनके थक जानेपर पृथ्वी उलट-पलट जाय। उसका अर्थ है नाग मायने हवा। इसमें तीन शब्द हैं— न, अ, ग। ग कहते हैं जाने वाले को गच्छति इति गः। न गः इति अगः। जो न जाय उसे अग कहते हैं। तो जो न जाय वह है पर्वत। अचल चीज, जो स्थिर रहे और न अगः इतिनागः। जो स्थिर न हो उसे नाग कहते हैं। तो नाग कहो या ग कहो उसका अर्थ है जो स्थिर न रहे, सदा चलित रहे उसे नाग कहते हैं। सदा

चलती रहे ऐसी चीज है हवा और शेपका अर्थ है बची हुई। सर्व पृथ्वियों के नीचे हवा रहती है। ये जो ७ पृथ्वियां हैं इन प्रत्येकके नीचे हवा है और चारों दिशावोंमें हवा है। तो यह पृथ्वी हवा पर सधी हुई है। तो शेष नागका अर्थ है शेपकी बची हुई वायु। उस वायु पर यह पृथ्वी आधारित है।

नारकियोंका क्लेशमय वातावरण-- यह नारकी जीव उन पृथ्वियो के ऊपर नहीं रहता, किन्तु ठीक मध्यमें ऐसे ही बड़े बिल बने हुए हैं जिन में वे नारकी जीव रहा करते हैं। उनका देह दुर्गन्धित वैक्रयिक है कोई तलवारसे खण्ड-खण्ड करदे तो भी पारेकी तरह फिर एक हो जाये और शरीर फिर तैयार है। वे नारकी जीव चाहते हैं कि मेरी मृत्यु हो जाय पर जितनी आयु उनकी है उनके पहिले वे मरते ही नहीं हैं। यहां मनुष्य चाहते हैं कि हम अभी न मरें। लेकिन उनकी आयु बीचमें ही कट सकती है। नारकी चाहते हैं कि अभी मर जाये, बड़े क्लेश हैं पर वे नहीं मरते हैं। तीन आयु पुण्यरूप हैं और नरक आयु पापरूप है। जो जीव मरना नहीं चाहता उसकी आयु पुण्यरूप है और जो मरना चाहता है उसकी आयु पापरूप है। तिर्यञ्च भी कोई मरना नहीं चाहता पशु, पक्षी आदिक। मनुष्य भी और देव भी मरना नहीं चाहते। नारकी चाहते हैं कि हम मर जाये पर पूर्ण आयुसे पहिले नहीं मरते। उनके देहके खण्ड-खण्ड हो जायें तो भी पारेके समान सब एकरस हो जाते हैं।

नारकियोंकी अशुभ विक्रिया— नारकी जीवोंका शरीर दुर्गन्धित होता है, विक्रिया भी होती है। वे सुन्दर रूपवान् अपने शरीरकी विक्रिया नहीं कर सकते। खोटा करेंगे। निकले दांत, उठी हुई सींग, जैसे कि आप चित्रोंमे देखा करते हैं, ऐसी कठिन विक्रिया उनके होती है। उन्हें करोंत चाहिए हो कि किसीके दो टुकड़े करदें तो हाथ ही करोत बन जाते हैं। जो हथियार चाहिए हो छुरी तलवार सब उनके अंग बन जाते हैं। उनमे विक्रिया है, मनुष्यमे विक्रिया नहीं है। बहुतसी बातें तो मनुष्यकी भी बन जाती है। अंजुलकी ही कटोरी कलछुली बन गयी, मुट्ठी बांध लिया मुगदर सा बन गया, थप्पड़ लगा दिया वह प्रहारक बन गया, लो अपन दसों चीजें बना डालते हैं, विक्रिया नहीं है फिर भी नारकी जीवोंके तो वे नाना प्रकारके शस्त्र बना डालते ऐसी उनकी अशुभ विक्रिया है। नारकी जीवोंको चैन नहीं है। रात दिन वहा हैं ही नहीं, अंधेरा ही अंधेरा है। ऐसे नारक देहमे रहने वाला आत्मा अज्ञानवश अपनेको समझता है कि मैं नारकी हूं।

भ्रम और वस्तुस्थिति— यो अज्ञानवश यह जीव मनुष्य देहमें पहुचा तो मानता है कि मैं मनुष्य हू, तिर्यञ्च देहमें पहुंचा तो मानता है कि मै तिर्यञ्च हूं, देवके शरीरमें पहुचा तो अपनेको देव मानता है। नारकीके शरीरमें पहुचा तो अपनेको नारकी मानता है, किन्तु वास्तवमे यह जीव इस प्रकार है नहीं। यह तो अनन्त ज्ञानकी शक्ति वाला अपने आपके ज्ञानके द्वारा ही अनुभवमें आ सकने योग्य जिसका स्वरूप कभी भी चकित नहीं होता है ऐसा यह मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्य स्वरूप हू किन्तु बहिरात्मा जीव इस स्वरूपके राजको भूल गया है और बाहरमें निरखा तो जो परिणति मिली है उस ही परिणतिमे यह आत्मीयबुद्धि करने लगता है। तो ऐसी अनन्त ज्ञानशक्ति वाला स्वसम्वेद्य अचल स्वभाववान् हू— ऐसा जो अपनेमें विश्वास रखता है और ऐसा ही दर्शन करता है उस पुरुषको जगत्के पदार्थोंके परिणमनमे व्यग्रता नहीं होती क्योंकि वह समझता है कि मैं स्वसम्वेद्य हू और अचल स्थिति वाला हू, इस प्रकार तो यह अपने देहमे ममताबुद्धि करता है और बाहरमें अनेक जीवोंको देखता है तो वहा क्या निर्णय करता है इस सबन्धमें आचार्यदेव कह रहे हैं—

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

परदेहमें पर आत्माका भ्रम— जैसे अपना आत्मा जिसमें विराजमान है ऐसे देहको यह मोही जीव मानता है कि यह मै आत्मा हू इस ही प्रकार दूसरे लोग भी उन अधिष्ठित पर देहोको देखकर ऐसा मानते हैं कि ये दूसरे हैं, परको पर जानना अच्छा है किन्तु ये तो परदेहको ही पर आत्मा देख रहे हैं, ऐसे मिथ्यात्वसे छूटा नहीं है। अज्ञान बना हुआ है। दूसरेकी देहमे भी तो यो दीखता है कि यह देह भी परवस्तु है और इस देहमें रहने वाला जो यह आत्मा है यह भी पर है तब तो उसका ज्ञान ठीक था किन्तु जैसे स्वाधिष्ठित देहको माना है कि यह मैं हू इसी तरह दूसरेके देहमे यह मानते हैं कि ये परजीव हैं। इस तरह बहिरात्माको अपने आपमें भी भ्रम है और अन्य जीवोंके स्वरूपमें भी भ्रम है।

देहमें आत्मत्वके भ्रमका कारण— भैया! निजको निज परको पर जान। कब यह हो सकता है? जब वस्तुकी मर्यादाका पता हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पदार्थ किस रूप हैं, यह ज्ञानमे हो तो यह निर्णय कर सकते हैं कि यह तो मैं हू और बाकी सब पर हैं। देहमे आत्मा समझ लेनेका भ्रम मान लेनेमें एक यह भी सहयोगी कारण है कि यह देह बहुत वर्षों तक

विघटता नहीं है। ज्योंका त्यों बना रहता है। अनेक शरीरोंके स्कंध आते हैं और अनेक जाते हैं। तो इस शरीरमें अनेक परमाणु आए और अनेक परमाणु चले गए। यह तो तांता प्रति समय लगा रहता है लेकिन इस स्थितिमें जो शरीरकी स्थिरता रहती है उस स्थिरताके कारण यह भ्रम हो गया है कि यह मैं आत्मा हूं।

पुद्‌गलस्कंधोमें परमार्थभूत पदार्थ— इस देहमे यह देह पदार्थ नहीं है किन्तु जिन एक-एक अणुवोसे यह देह सचित हुआ है वे एक-एक परमाणु परमार्थभूत पदार्थ हैं। इस मोही जीवकी पदार्थोंपर दृष्टि नहीं जाती है, पर्याय पर दृष्टि जाती है। जहां ही यह निगाह डालता है वहां ही देखता तो है पर्यायको, मगर मान जाता है कि यह सर्वस्व द्रव्य है। क्या दीखता है—ये चेतन, अचेतन, भींत, किवाड़, कुर्सी, टेबुल, काकर पत्थर, सोना, चांदी, तांबा ये सब अचेतन ही तो हैं। ये अचेतनद्रव्य नहीं हैं किन्तु परमार्थभूत एक-एक परमाणु जो कि द्रव्य है उनका सम्बन्ध बनाकर एक समानजातीय द्रव्यपर्याय हो गया है। मोही जीव इसे पर्यायरूपसे नहीं जान सकता। पर्यायको पर्याय जाने तो वह ज्ञान भूठा नहीं है किन्तु वह पर्यायको आत्मारूपसे जानता है। कोई झूठको झूठ जाने तो वह स्पष्ट सही ज्ञान ही तो हुआ। झूठको सच जाने तो वह भ्रम वाली बात हुई। पर झूठको झूठ जान लेना मिथ्याज्ञान वाली बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनकी दृष्टिसे परमाणुको देखो—एक-एक प्रत्येक परमाणु अपने गुणपर्यायका पिण्डरूप है।

स्वरूपचतुष्टयसे परमाणुका एकत्व— द्रव्यदृष्टि गुणपर्ययवद्‌द्रव्य को बतलाती है। परमाणुका स्वरूप उसका गुणपर्यायरूप पिण्ड है, उसका भी स्वतंत्र स्वरूप है। किसी अन्य पदार्थसे परमाणुका स्वरूप मिल नहीं जाता है, क्षेत्रदृष्टिसे परमाणु एकप्रदेशी है। परमार्थसे पुद्‌गल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी है। स्कंधकी अपेक्षा पुद्‌गलको अस्तिकाय बताया है। कालकी दृष्टिसे जिस पर्यायरूप परिणम रहा है उस-उस पर्यायमय है और भावोंकी दृष्टिसे परमाणुमे जो स्वभाव है, शाश्वत गुण हैं, उनकी दृष्टिसे उन ही मय है। ऐसा परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप है और यह मैं आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप हू।

अज्ञानी व ज्ञानियोंका निज व पर— 'निजको निज परका पर जान।' इसकी व्याख्या अज्ञानियोंमे भी है। अज्ञानी व्यामोही जीव अपने कुटुम्बको मानते हैं कि ये निज हैं और अन्य सब जीवोंको मानते हैं कि ये पर हैं और कहते भी हैं कि यह मेरे सगे चचा हैं और यह हमारी

रिश्तेदारीके चाचा हैं। अरे इस जीवका जीवके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। केवल व्यामोहसे ऐसा कहा जाता है। ऐसी परख हो तो वहां ज्ञानमें बाधा नहीं है, किन्तु अज्ञानीकी कल्पनामें तो वास्तवमें ऐसा ही है, यहां मेरा कुछ है ही, बस यही मिथ्याज्ञान हो जाता है। ज्ञानी जीवको अपने आपमें भी उस चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति होती है। दूसरे के देहोंमें भी उन देहोंसे भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र अन्य जीव हैं इस प्रकारकी प्रतीति होती है।

सकटोंकी नींव— जितने संसारमे सकट हैं वे सब संकट अहंकार और ममकार की भींत पर टिके हुए हैं। ये दो भाव न हों तो संकट क्या रहा? अहंभाव—परको मानना कि यह मैं हू और ममकारभाव-परमें ऐसी बुद्धि करना कि ये मेरे हैं। बस ये दोनों ही भाव समस्त अनर्थोंके मूल हैं। परमें अहंबुद्धि करना तो प्रकट मिथ्यात्व है और परमे ममबुद्धि करना यह भी मिथ्यात्वमें हो सकता और चारित्र मोहमें भी हो सकता किन्तु व्यवहार चलानेको इस जीवने अपने को नानारूप अनुभव कर डाला, पर एक स्वच्छ ज्ञानमात्र मैं हूं, किसी परके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसी बुद्धि इस जीवने अब तक नहीं बनायी और इसीका फल है कि यह संसार में अब तक रुलता चला आया है। यह बहिरात्माकी कहानी चल रही है। बाहरी पदार्थोंमें यह मै हूं—ऐसी अपनी आत्मीयता स्वीकार करे उसे बहिरात्मा कहते हैं। बहिरात्मा कहो, पर्यायबुद्धि कहो, मूढ मोही, पर्याय मुग्ध ये सब एकार्थवाचक हैं।

अनित्यभावनाको मूल्य देने वाला परिचय— भैया! अनित्य भावना में कोई जीव ऐसा ही ऐसा जानता रहे कि सब मरने वाले हैं, "राजा, राणा, छत्रपति, हाथिनके असवार। मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार॥" सब मरेंगे, ये मरेंगे, वे मरेंगे, मरना ही मरना दीखता रहे तो उसने अनित्यभावना का मर्म नहीं पाया। ज्ञानीको तो यों समझमें रहती है कि इस जीवमें जो सहज स्वरूप है, चैतन्यभाव है वह तो नित्य है और इसकी जो बाह्य परिस्थिति है वह अनित्य है। मरण होता है पर्यायसे आत्माके अलग हो जानेसे। जन्म होता है आत्माका किसी पर्यायसे सम्बन्ध हो जाने से। आत्मा मरता नहीं है किन्तु जिस पर्यायमें यह आत्मा बंधता है वह पर्याय मरता है। जीव मरता तो कभी है ही नहीं, देहसे इसका वियोग होता है व देह विघटता है। सो देह परमाणुवोंका पिण्ड है। वह परमाणु भी कभी अपनी सत्ताको नष्ट नहीं कर सकता। तब फिर मरना दुनियामे कुछ भी बात नहीं है। हो गया वियोग पर द्रव्य

सब ज्योंके त्यों हैं।

जीवत्वके अपरिचयमे मरणभय— भैया! मरना तो उनके लिए हो सही लगता है जो वर्तमानमे पाये हुए समागममें अतिशय करके ममता बुद्धि रखते हैं। मरण तो उनका है। जैसे किसीसे कह दिया कि यहां क्यो बैठे, यहा बैठ जावो, तो उठकर बैठ गया। इसमें किसका बिगाड़ है? ऐसे ही यह जीव इस पर्यायमें क्यो बहुत दिन तक रहता है? यहांसे चले, नवीन पर्यायमे पहुचे तो उसका क्या बिगाड़ है? अज्ञानीको मरण का भय है, मरणका क्लेश है। जिसने बाह्यमें अपना सम्बन्ध मान रखा है मरण तो उन्हीके लिए है। आत्माको आत्मारूपसे पहिचानने पर मरण नाममे कुछ बिगाड़ नहीं है। सो मरण भी देखे, मरण भी बोले, पर साथ ही यह भी समझना चाहिए कि जीवमे जो सहजस्वभाव है उसका कभी विनाश नही होता। यह अज्ञानी जीव तो नष्ट होने वाला अपने देहको मानता है कि यह मै हू और परके देहको मानता है कि यह पर जीव है। इसे जीवत्वकी दृष्टि अभी तक नहीं जगी है, इस कारण यह जीव बहिरात्मा है।

बहिरात्मा जीव अपने शरीरको अपना आत्मा समझता है और पराये शरीरको पर आत्मा समझता है। इस तरह अपने आपके अस्तित्व में भी भ्रम किए हैं और अंतस्तत्त्वमे भ्रम किए है। सो ऐसे निज और पर मे मिथ्यारूपसे माननेके कारण क्या परिणति बनती है? इस विषयको अब इस श्लोकमे कह रहे हैं।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
जायते विभ्रमः पुंसा पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

अज्ञानीके स्वपरनिर्णयमे भूल— जिसने अपने आत्मस्वरूपको नहीं जाना है ऐसे पुरुषने देहमें ही सो यह मैं हू, ऐसा माना और देहमें ही यह पर है, ऐसा माना। यह मोही जीव किसीको तो अपना मानता है कि यह मैं हूं। सो यह तो भूल है ही पर किसीको यह पर है ऐसा भी मानता है तो भी वहां भूल है। परको यथार्थरूपसे पर भी नहीं समझ पाता है। देहको ही तो निज आत्मा मानता है और देहको ही पर आत्मा मानता है। सो भूल होने के कारण इस जीवके पुत्र भार्या आदि सम्बन्धियोंमे भी भ्रम हो जाता है। देहोंमें स्व और परका आशय जब होता है तो फिर रिश्ते-दारीकी कल्पना होने लगती है कि यह मेरा पुत्र है, अमुक मेरी स्त्री है आदिक सम्बन्धी इसके भ्रम चलने लगता है और जहा परके सम्बन्धका भ्रम चला कि वहा विडम्बनाएँ बढ़ती चली जाती हैं।

बोले सो बिधूचे— भैया ! जो परपदार्थमें कुछ भी अनुराग करता वह जीव व्यवहारमें फँस जाता है। कहां तो स्वतंत्र ज्ञानघन आनन्दमय यह आत्मतत्त्व है जो कि कृतार्थ है, कुछ करनेको इसे है ही नहीं। यह ज्ञान और आनन्द करि सम्पन्न है। इसका स्वभाव ही ज्ञान और आनन्दका है, लेकिन अपने ही स्वरूपका परिचय न होनेसे यह बाह्यवस्तुवोंमे उन्मुख होता है, उनमें राग करता है और इसी कारण इसका फँसाव बढ़ता जाता है अन्यथा बताओ लड़के हुए वहां तक तो मान लिया कि फँसावकी बात है। अब लड़कोंके लड़के हुए तो जैसे बाप बनकर लड़कोंके लिए पागल रहे वैसे ही लड़कोंके लड़के हुए तो उनके पीछे भी पागल रहेगा। नाती पोते हो गए तो और भी फँसाव बढ़ गया। तो परपदार्थोंमे अनुराग करने से फँसाव बढ़ता ही जाता है, इसे कहते हैं बोले सो बिधूचे।

बोलेकी बिधूचनपर एक दृष्टान्त— एक राजा साधुके पास जंगलमे पहुंचा। वह प्रणाम, दण्डवत, अर्चन करके बैठ गया। थोड़ी देर बाद साधुकी समाधि टूटी। जब राजाको अपने सामने बैठा हुआ देखा तो साधु महाराजने यह कह दिया कि बोलो राजन क्या चाहते हो ? राजा के कोई पुत्र न था। सो राजा बोला—एक पुत्र मेरे हो जाय। साधुने कहा अच्छा जावो एक पुत्र हो जायेगा। अब राजा चला आया। माह भर बाद साधुने देखा कि इस समय कोई जीव मर रहा हो तो रानीके गर्भमें भेजूँ। पर देखा कि कोई नहीं मर रहा है। तो साधुने सोचा कि मेरी बात कहीं झूठ न हो जाय इसलिए खुद मरो और रानीके पेटमे चलो। तो साधु खुद मरा और रानीके गर्भमें आया। अब गर्भके दुःख, मुँह न खोल सके, देख न सके, बोल न सके, सो गर्भके कष्टोंसे पीड़ित होकर पेटके अन्दर ही सोचता है कि मै जन्म ले लूँगा पर कभी बोलूँगा नहीं। साधु होकर भी मैंने बोल दिया था कि तेरा अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा तो इतने दुःख उठाने के लिए रानीके पेटमें आना पड़ा। तो अब मैं कभी न बोलूँगा। बोलने से विडम्बना बढ़ जाती है।

बोलेकी बिधूचनपर एक उपदृष्टान्त— साधु पैदा तो हो गया बड़ा पर बोले नहीं। गूंगा बन गया। अब राजाको बड़ा दुःख कि पुत्र किसी तरहसे हुआ भी तो गूंगा हुआ। अब वह ८–१० वर्षका हो गया तब तक भी न बोले, तो राजाने घोषणा करा दी कि मेरे पुत्रको जो बोलना बता-येगा उसे बहुत इनाम दूंगा। एक बार राजपुत्र बगीचेमे घूम रहा था और उसमें एक चिड़ीमार जाल बिछाए चिड़िया पकड़ने छुपा हुआ बैठा था। जब चिड़िया न मिली तो अपनी जाल लपेटकर चलने लगा। इतने मे ही

एक चिड़िया एक डाली पर बोल गयी। चिड़ीमार ने लौटकर जाल फेंककर उसे पकड़ लिया। यह बात देखकर राजपुत्रसे न रहा गया और वही बोल पड़ा, जो बोले सो फँसे। उसका मतलब था कि यह चिड़िया न बोलती तो वह तो जाल लपेटकर जा ही रहा था, बोली सो फसी। अब राजपुत्र के इतने शब्द सुनकर चिड़ीमारके हर्षका ठिकाना न रहा। उसने सोचा— राजपुत्र बोलता है, ऐसा राजाको सुना दें तो बहुतसा इनाम मिलेगा। चिड़ीमार सीधा राजाके पास पहुचा और बोला कि महाराज आपका पुत्र बोलता है। इतनी बात सुनकर राजाने ५ गाव उसके नाम लगा दिये। अब राजपुत्र महलमें आया तो राजा कहता है कि बोलो बेटा। वह न बोला। अब तो राजाको चिड़ीमारपर बड़ा क्रोध आया कि चिड़ीमार भी हमसे दिल्लगी करते हैं। अच्छा मैं इसे फांसी दूगा।

बालेकी विवूचनपर अन्तिम उपदृष्टान्त— राजाने उस चिड़ीमारको फासीके तख्तपर चढ़वा दिया और राजा बोला कि तू जो चाहता हो खा पी ले, जिससे मिलना चाहता हो मिल ले। चिड़ीमार बोला—महाराज मुझे कुछ न चाहिए, सिर्फ दो चार मिनटका आप अपने पुत्रसे मिला दो। मिला दिया। अब राजपुत्रसे चिड़ीमार कहता है कि ऐ राजकुमार! मुझे मरनेका जरा रंज नहीं है। रंज इस बातका है कि दुनिया जानेगी कि चिड़ीमार ने झूठ बोला, इसलिए फांसी दी गयी। इसलिए हे राजकुमार! आप अधिक न बोलो तो उतने ही शब्द बोल दो जो शब्द बगीचेमें बोले थे। वह राजपुत्र अब उतने ही शब्द क्या बोले, उसने तो भाषण दे डाला। पहिले मैं साधु था, वहा राजासे बोल गया, सो रानीके पेटमें फंस गया। इसीसे मैंने ८, १० वर्षकी अवस्था तक नहीं बोला था, अब देखो चिड़िया डाली पर बोल पड़ी इसीलिए चिड़ीमारके जालमें फस गयी। और देखो ये चिड़ीमार साहब भी राजासे बोल उठे सो वह भी फस गये।

व्यर्थके श्रमसे विराम लेकर एक अपूर्व कार्यका प्रयोगपरीक्षण—यह संसार बिल्कुल अजायबघर है। किसी बातपर हमारा आपका अधिकार ही नहीं है। बिल्कुल व्यर्थके ख्याल कर करके खुश होते रहते हैं। यह मेरा है, मेरा यह ठाठ है। तो इस भ्रमसे ही तो सारी विडम्बनाएं हैं। इन सारी विडम्बनावोंका मूल है इस देहको आत्मा मानना। सब विडम्बनावों की जड़ जो मूल भ्रम है वह मिट जाय तो सब विपदा दूर हो जायेगी। सुख पानेके लिए कोशिश बहुत करते हैं मनुष्यजन, बड़ा श्रम करते हैं, उसका सोवा हिस्सा भी ज्ञानभावनाके लिए, वस्तुस्वरूप सीखनेके लिए, विज्ञान ज्ञान बढ़ानेके लिए श्रम किया जाय तो इसको मार्ग मिलेगा, सुख

मिलेगा। जैसे जब व्यापार करते हुए कई वर्षोंसे टोटा ही टोटा चलता है तो वह व्यापार भी बदल दिया जाता है और दूसरा व्यापार किया जाता है इस चाहसे कि हमें लाभ मिले, तो ऐसे ही जहां पचासों काम किए जा रहे हों वहां जरा एक काम यह भी करके देख लो कि सबसे न्यारा देहसे भी जुदा मात्र ज्ञायकस्वरूप मैं हूं, ऐसी भावना करनेका काम भी देख लो क्या फल होगा ?

भ्रमत्रयकी विडम्बना— इस वराक प्राणीको मूल भ्रम है अपने देहमें यह मैं हूं ऐसा विश्वास बनानेका। दूसरा भ्रम यह हुआ कि दिखने वाले जो ये शरीर हैं ये पर हैं यह भ्रम किया। तीसरा भ्रम यह आया कि उन पर-जीवोंको अपने जीवके साथ जोडा। यहां तक अब उद्दण्डताके तीन कार्य-क्रम बताए गए हैं। यह जीव मोहवश अपने देहको यह मैं हूं सा मानता और परके देहको यह पर-आत्मा है ऐसा मानता है तथा उस परका अपने साथ रिश्ता जोडता है। इस तरह इन तीन भ्रमोंकी बातोंमें फँसानेके कारण यह जीव अनेक विडम्बनाएं भोग रहा है।

अन्तर्भावनाकी मूल आवश्यकता— भैया ! सुखके अर्थ भगवानकी भक्ति भी करते हैं, स्तवन पूजन भी करते और बोलते जाते हैं, पर रटा हुआ है सो बोल जाते हैं, पर वहां दृष्टि अन्तरमें नहीं बन पाती है। 'आतम के अहित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय ॥' यह खूब रटा हुआ है, फर्क नहीं आ सकता है। जैसे हम बोलते हैं, आप बोलते हैं, सब बोलते हैं, पर बोलते समयमें भी अपनी गल्ती पर अफसोस हो, और यह गल्ती अब न बने ऐसी अन्तरमें भावना हो तो हमारा आपका स्तवन सार्थक है, अन्यथा तो सब एक ही बात है। मानों विषय-कषाय भोगनेकी विधि हो कि भगवान्की पूजा कर आएं और फिर विषयोंको, परिग्रहोंको आरम्भों को खूब किया करें, ऐसा कुछ रूटीनसा बन गया है। किसी क्षण इस विविक्तता पर दृष्टि तो जानी चाहिए। यह मैं समस्त परपदार्थोंसे भिन्न केवल स्वरूपमात्र हूं।

पर-परिणतिसे निजमें विपरिणमनका अभाव— भैया ! दुनियाके लोग कैसा ही कुछ परिणमन करें, ढोल बजाकर निन्दाएँ किया करें। जरा स्वरूपको तो देखो—मेरे प्रति हजारों लाखों जीवोंका भी एक साथ बिगाड़ करनेके भावसे यत्न हो, परिणति हो, किसी भी परकी परिणतिसे मेरा अपने आपमें कोई फर्क नहीं आता है। कोई किसीको रुलाता नहीं है। मुग्ध प्राणी स्वयं अपनी पीड़ासे रोया करते हैं, और वह पीड़ा भी है केवल कल्पनासे उत्पन्न हुई। कोई सगा हितू हो और वह भी रोने लगे

रिश्तेदारके दुःखमें तो रिश्तेदार और तेज रोने लगता है। इतना होने पर भी दूसरा उसे रुलाता नहीं है किन्तु आश्रयभूत बनकर अपनी कल्पना से अपने आपमें रुदन किया करता है। सुख और दुःख देने वाला इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है। मात्र मोह रागद्वेषसे यह जीव अपने आप दुःखी होता है। पर तो आश्रय है जिसे बना लेवे।

आन्तरिक इच्छाके विलासके बहाने-- गुरु जी सुनाते थे कि एक ललंजू भाई थे। उन्हें व्याख्यान या शास्त्र बोलना नहीं आता था। ऐसी भी स्थिति होती है कि ज्ञान तो अधिक जान जाय पर प्रयोगमे, व्यवहार में बोलनेमें नही ला सकते। तो उसने क्या किया, मानो रामायण ली और जगलमे पहुंच गया। लोगोंके बीच तो बोलनेमे झिझकता था, सो जंगलमे ही पेड़ोको आदमी समझकर कि हमारे श्रोता तो ये हैं— तो पेड़ों को रामायण सुनाने लगा। अब जब सुनाते-सुनाते थक गया, रामायण बंद करनेको चाहा तो देखा कि हवा रुकी है, पत्ते भी जरा नहीं सनक रहे हैं, सो उन वृक्षोंसे कहता है कि अब तुम चुप-चाप हो गये हो, मालूम पड़ता है कि तुम्हारे सुननेकी अब इच्छा नहीं है। और यदि हवा तेज चले और रामायण बद करने को हो तो क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि तुम बड़ा मना करते हो, हाथ हिला-हिलाकर मना करते हो, अब तुम्हें सुनना नहीं है, मना कर लो, ऐसा कहकर भी तो पोथीपत्रा बंद करके जाया जा सकता है। ऐसी ही बात जीवको सुखी होने की बनायी है अथवा दुःखी होनेकी बनायी है। वह तो जैसा परिणमन करता हो, करेगा पर मिलेगा फल उसमें ही, कल्पना बनाकर सुखी हो लेगा अथवा दुःखी लेगा।

स्वकीय योग्यतानुसार परिणमन-- सब परिणतियां अपनी योग्यताओंके मुख्य कारणसे चला करती हैं। तिलमें तेल होना है तो कोल्हूसे पेलकर तेल निकाल लिया जाता है और बालूमें तेल नहीं होता है सो कितना ही पेला जाय उसमें तेल नहीं निकलेगा। जिसके दुःखका उपादान है वह कहीं चला जायेगा। जहां जायेगा वहा कोई कल्पना बनाकर दुःखी हो लेगा। अपना दुःख बनानेके लिए बाहरमे कोई भी समर्थ नही है। कदाचित् अपने मनके अनुकूल बाहरमे परिणति हो जाय तो भी कहीं अन्य पदार्थोंकी परिणतिसे सुख नही हुआ है। वहा भी अपने ज्ञानकी कलासे सुख होता है। किसी भी अन्य वस्तुके साथ अपना कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं है। फिर भी यह अज्ञानी, पर्यायव्यामोही जिसे वस्तुस्वरूप का परम अभ्यास नहीं है कभी कुछ कह बैठता, कभी कुछ कह बैठता, कभी

कुछ कह बैठता, पागलोंकी नाई रहता है। ऐसा अज्ञानी जीव अपने शरीर को मानता है कि यह मैं हू और पराये शरीरको मानता है कि यह पर है। न उसने स्वयं को मायनेमें परका जाना, न असली मायने में मैं को जाना। इन सब व्यवस्थाओंसे पृथक ज्ञानानन्दमात्र आत्मतत्त्वके दर्शन बिना यह जीव कहा-कहा डोल रहा है।

शरीर शरीरोंकी निमित्तनैमित्तिकता— ये सम्बन्ध भी शरीरके शरीरके साथ हैं। हा इतनी बात अवश्य है कि जिस शरीरमें आत्मा ठहर रहा है उस शरीरका और अन्य आत्माधिष्ठित शरीरके साथ सम्बन्ध है। इस शरीरके साथ याने जिस उदरसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है उस ही उदरसे जो शरीर उत्पन्न हुआ वही भाई है, वही बहिन है, इस शरीरको जो कोई दूसरा शरीर रमाये वही पति है और वही पत्नी है। इस शरीर के कारणभूत पिताके शरीरके सहोदर चाचा बुआ आदिक हैं। ऐसा ही सम्बन्ध जोडते जावो तो जितने भी नाते रिश्तेदार हैं सबके सब रिश्ते इस शरीरके सम्बन्धके कारण मिलेंगे। इस आत्माको जानता कौन है, कोई जान जाय आत्माको तो फिर रिश्तेदारी कैसे बतायेगा? जो जान जायेगा जैसा कि यह शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व है तो वह तो स्वयं सम्यग्ज्ञानके कारण इस शुद्धस्वरूपमें घुल जायगा। वह भेद ही नहीं मानेगा, फिर रिश्ता और सम्बन्ध कैसा?

अन्तर्भावनाकी विजय— वज्रभानु जैसा व्यामोही पुरुष जिसकी स्त्रीको उस स्त्रीका भाई लिवाने आया तो स्त्रीके साथ ही चल दिया अपनी ससुरालके लिए। अब तीन थे। खुद, उसकी स्त्री और साला। जगलमें निकले और वहा एक मुनिराजको आनन्दमग्न तपस्या करते हुए निरखा तो उनको देखते ही वज्रभानुका मोह गल गया—अहो यह विविक्त आत्मा कैसा आनन्दविभोर है व धर्ममें लीन है और यह मोही मैं स्त्रीके साथ-साथ जा रहा हू। इतनेमें उसके वैराग्य सवार हुआ, मोह टला, एक-टकी लगाकर देखने लगा। साला दिल्लगी करता है कि क्या तुम मुनि बनना चाहते हो? उसे उत्तर देनेका मौका लग गया, मैं बनूंगा तो क्या तुम भी बनोगे? वह जानता था कि यह मुनि नहीं बन सकते हैं सो कह दिया। हां लो वह वज्रभानु निर्ग्रन्थ साधु बन गया। यह घटना देखकर सालेका भी ज्ञान और वैराग्य जगा। वह भी साधु हो गया। दोनोंकी इस ज्ञानलीलाको निरखकर स्त्रीका भी वैराग्य बढा और वह आर्यिका हो गयी। अब इन दोनोंका पता नहीं कि कहा हैं, वज्रभानुके घरवालोंको न उस स्त्रीके घर वालोंको। तो ये सब रिश्तेदारी देहके और मोहके हैं,

आत्माके नहीं हैं। मैं देहसे भी न्यारा चैतन्यस्वरूप मात्र एक आत्मतत्त्व हूं ऐसी भावना ज्ञानी जीवके होती है। अज्ञानी तो ममत्व बढ़ाकर हाय-हाय करके परसंचयमें ही अपना समय खो देता है, इसी सम्बन्धमें अब और आगे कहा जायेगा।

भ्रम और विभ्रम— इस अज्ञानी जीवने अपने देहको अपना आत्मा माना और परके देहको पर-आत्मा माना। यों देहोंमें आत्मत्वका अभ्यास होनेके कारण इसे फिर देहके सम्बन्धियोंमें अपना सम्बन्ध मानने का भ्रम हो गया। जो अपना शरीर रमाये उसे पति अथवा स्त्री माना जाने लगा। जो देहके उत्पन्न होनेमें निमित्त हुआ उसे माता-पिता माना जाने लगा। और अनेक सम्बन्ध इस देहमें आत्मत्वके भ्रमसे माने जाने लगे। इसी कारण पुत्र मित्र आदिककी रक्षा करते हैं, उनको प्रसन्न रखना चाहते हैं, कभी भी प्रतिकूल हो जाय तो उन पर विरोधभावकी दृष्टि रखते हैं, खेद मानते हैं। इसी प्रकार ये अनेक विडम्बनाएँ करने वाले हो जाते हैं। ऐसा इसे देहमें आत्मत्वका भ्रम हुआ और पुत्र भार्या आदिकमें एक विभ्रम पैदा हो गया। अब यह बताते हैं कि ऐसे विभ्रमसे फिर आगे क्या परिस्थिति बनती है?

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढ़ः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

अज्ञानसंस्कार— देहमें आत्मत्वका भ्रम होने से और पुत्र स्त्री आदिकमें आत्मीयताका भ्रम होने से अविद्यानामक संस्कार और दृढ़ हो जाता है। ज्यों-ज्यों शरीरमें आत्मा माननेकी वृत्ति जगती है त्यों त्यों यह अज्ञानका संस्कार और भी दृढ़ हो जाता है। देह ही मैं हूं, इस प्रकारका उसका संकल्प बन जाता है। इस तरह फिर यह लोक, अज्ञानी जीव शरीर को ही आत्मा मानता है। देहको आत्मा माननेके भ्रमसे अज्ञान बढ़ाना और अज्ञान संस्कारके कारण फिर भी यह देहको आत्मा मान लेना, यही चक्कर जीवोंका चल रहा है। जिस देहमें पहुंचा उसीमें ही रम गया। उसे ही यह मैं सब कुछ हूं ऐसा मानने लगा। इसी कारण इसे मौतसे डर लगता है, रोगसे भय रहता है और इस देहके साधनोंके लिये, देहको रमाने वाली अन्य वस्तुवोंके लिए चिंतातुर रहता है।

अज्ञानसंस्कारका परिणाम— अब बहिरात्मा जीवकी स्थितियां बतायी जा रही हैं। इस ग्रन्थका मुख्य प्रयोजन है रागद्वेष मोहको दूर करके अपने आत्मस्वभावमें स्थिर होना—ऐसी शिक्षा दी जा रही है। तो जब तक बहिरात्मापनकी असारता नहीं मालूम होती तब तक यह हटे कैसे,

इसीलिए बहिरात्माका स्वरूप विवरणके साथ बताया जा रहा है। अविद्या कहो या अज्ञान कहो, एक ही अर्थ है। जहां अपने यथार्थ सहजस्वरूपका भान नहीं है और किसी अनात्मतत्त्वमें आत्मत्वकी श्रद्धा है वहा यही अविद्या और अज्ञानका विस्तार चलता है। कैसा बहिर्मुख रहा यह कि इस जीवने किसी क्षण भी इस आत्माकी ओर मुड़कर नहीं देखा, बाहर ही बाहर इसकी दृष्टि रही। इस तरह अज्ञानका ही संस्कार बढ़ता गया और इसके परिणाममें जन्म-मरण इसके बढते चले गए।

देहबन्धनसे छूटनेका उपाय— इस देहके बन्धनसे दूर होनेका उपाय यही है कि अपनेको देहसे भिन्न माना जाय, भिन्न समझा जाय, इसके अतिरिक्त इसे और कुछ श्रम नहीं करना है। इस ही ज्ञानको दृढ़तर बनाना है। बंधन छूटा ही हुआ है। अथवा कुछ ही भवोंमें यह बिलकुल छूट जायेगा। जितने भी क्लेश हैं इस जीवको वे सब देहमें आत्मीयताके भ्रम से होते हैं। नहीं तो स्वरूप तो प्रभुवत् ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है, कोई कष्ट ही नहीं है इस जीवको। ये बड़े आनन्दसे हैं। कष्ट तो इसने स्वयं बना डाला है।

मोहकी कुटेव— भैया! जो आपके घरमें बाल बच्चे जो कुछ जीव हैं ये ही जीव आपके घरमें न होते किसी दूसरे के घरमें होते तो उस दूसरे घर वाले उससे मोह करने लगते, आपको मोह न जगता। किसी जीवमें मोहराग करनेकी कुछ रेखा खिंची हुई नहीं है कि यह जीव मेरा ही तो है। जो आया सामने आड़मे उसीको ही अपना मानने लगे। वस्तुतः किसी भी जीवके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, मोहवश सम्बन्ध दृढ किया है, सम्बन्ध है कुछ नहीं। यह सम्बन्ध सदा रहे तब जानें। तो सदा तो बड़े बड़े पुरुष भी नहीं रह सके। राम, कृष्ण, पाण्डव, तीर्थंकर बड़े-बड़े महा-पुरुष कोई भी सदा नहीं रह सके। किन्हीका परिवार किन्हींकी जोड़ी सदा बनी रहे ऐसा किसीके हुआ ही नहीं है।

मरण समयमें परकी अभ्यर्थना सर्वथा व्यर्थ— मरते समय यह जीव इस शरीरसे कितनी ही प्रार्थना करे कि रे शरीर! तेरे पीछे मैंने न्याय अन्याय भी नहीं गिना, रात दिन बड़ी भक्तिसे तेरी ही तेरी पूजा करता रहा, कैसा खिलाया पिलाया, भगवान् को भी थोड़ासा द्रव्य दिखा कर पूजनेका भाव बनाया पर हे शरीर! तेरेको बड़े कीमती आहार खिला खिलाकर तेरी पूजा की, अब तू मेरे साथ चल हम मरकर जा रहे हैं, तेरी इतनी तो सेवा की, अब तो तू साथ निभा। तो शरीरका यह उत्तर मिलता है कि आत्मन्! तुम मूढ़ हो रहे हो, यह मैं देह तो किसीके संग नहीं गया।

बड़े-बड़े महापुरुषोंके संग नहीं गया तो तुम्हारे संग जाऊँगा ही क्या ? जिस देहके खातिर अहकार पोषकर बड़े-बड़े अन्याय, शुभ अशुभ विडम्बनाएं कर डाली हैं वह देह भी इस जीवका कुछ नहीं है। ये साथ नहीं निभाता।

तृष्णावश जीवनका दुरुपयोग— कहां तो आनन्दमय ज्ञानघन पवित्र आत्मतत्त्व और कहा चाम, खून, हड्डी, मांस, नाक, थूकके पिण्डका यह शरीर ! कुछ भी तो मेल नहीं बैठता है इस आत्मामें और शरीर मे। किन्तु लो मोही जीव इसे ऐसा फिट बैठाल रहा है कि कुछ भेद ही नहीं समझता। यह मनुष्य देह तो फिर भी बड़े विवेक और सावधानी बनाने में सहायक हो सकता है। इस जीवने तो ऐसे-ऐसे बहुत शरीर पाये कीड़ा मकोड़ा, जलचर, मच्छ, मगर अनेक प्रकारके देह पाये जिन देहोंमें न कुछ हित साधन बना सकता और न कुछ आनन्द ही पा सकता है। अनेक योनियोंमें घूमते-घूमते यह मनुष्यदेह बड़ी दुर्लभतासे मिला है। क्या बताया जाय, जिसके पास जो चीज है उसकी वह कदर नहीं करता। जैसे किसीके पास लाख डेढ़ लाखका वैभव है तो उस वैभवकी कदर नहीं करता क्योंकि तृष्णा लग गयी कि यह तो कुछ भी नहीं है। जब दस-पांच लाख हो तब भला हो। मिली हुई चीजको मानो यों ही सुगम समझता है। ऐसे ही मनुष्यभव मिल गया तो इसे यों ही सुगम समझते हैं कि यह तो यों ही मिल गया है। कितना दुर्लभ है मनुष्य-जन्म ? इस ओर दृष्टि नहीं देता है।

मनुष्यभवकी दुर्लभता— हलका जुवा जिसमें बैल जोते जाते हैं उस जुवेमे चार छेद होते हैं, बैलकी गर्दनके आसपास डंडा लगानेके दो दो छेद होते हैं और उनमें जो डडा लगाया जाता है साफ सुथरा बढ़ईका बना हुआ उसको कहते हैं सैल। तो वह जुवा बिना सैलका समुद्रके एक किनारे पर डाला जाय और सैल समुद्रके दूसरे किनारे पर डाल दिये जायें और वह जुवा और सैल बहते-बहते किसी एक जगह आ जाएँ और जुवाके छेदमे सैल आ जाय तो आप सोच सकते हैं कि यह कितनी कठिन बात है ? जैसे यह कठिन बात है इसी तरह मनुष्यभवको प्राप्त कर लेना भी अत्यन्त कठिन बात है। मिल गया है अपने को सो सुगम लगता है। इसे कषायोंमे, भोगोंमें, ममतामें, अहकारमे ही गंवा देते हैं, पर ऐसे दुर्लभ मनुष्यदेहका सदुपयोग करना यह बड़े विवेकका काम है।

साधारण विवेक— भैया ! ऐसा ज्ञान जिस गृहस्थके या साधुके होता है वह संत पुरुष है कि मेरा आत्मा मेरे उपयोगके आधीन है। जब चाहें तब दर्शन करलें। जैसे घरकी कोई चीज, घरके कोई लोग बड़े सस्ते

और सुगम हैं ऐसे ही इस ज्ञानीसंतको अपने आत्माका मिलन बिल्कुल सुगम है और सस्ता है। कितनी ही बार जब चाहे इस आकाशवत् निर्लेप ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका परिचय कर सकता है। यह मनुष्यभव यों ही मनमाने विचारोंमें, भोगोंमें खो देनेके लिए नहीं है। स्वामी कार्तिकेय महाराज ने कहा है कि विधिने इस मनुष्यदेहको अपवित्र, घृणित इसलिए बनाया है कि यह जीव इस देहसे जल्दी विरक्त हो जाय, पर विरक्त होना तो दूर रहा, इस मोही जीवको इस देहका घिनापना भी प्रतीत नहीं होता। शकल सूरत रूप निहारकर यह सार है, हितरूप है, सुखदायी है इस तरह की कल्पनाओंसे उनकी ओर आसक्त रहते हैं।

असार देहके लाभका प्रयोजन वैराग्य— देखलो मनुष्यदेहमें कहीं कुछ भी सार बात नहीं नजर आती है। ऊपर पसीना है, रोम है, चमड़ा है, और जरा नीचे चलो—खून है, मांस है, मज्जा है, हड्डी है और भीतर भी धातु उपधातुयें हैं, तो जैसे कहते हैं कि केलेके पेड़में सारभूत चीज कुछ नहीं है, पत्तोंको छील जावो पूरी तरहसे तो वहां पेड़ कुछ न मिलेगा वे ही पत्ते जो ऊपर निकले हैं वे नीचे तक सम्बन्ध रखे रहते हैं। केलामें कोई सार नहीं मिलता, फिर भी इस मनुष्यदेहसे स्थावरकी देह अच्छी है, वनस्पतियों के देह अच्छे हैं। ये काठ, चांदी, सोना आदि तो कुछ काम आते हैं, पवित्र हैं, ठोस हैं पर मनुष्यदेहमें क्या तत्त्व रक्खा है, गंदगी गंदगीसे भरा हुआ है, सो मानो ऐसा यह गंदा देह विरक्त होनेके लिए मिला है। पर यह मनुष्य मोहमें आकर विरक्त होनेकी बात तो दूर जाने दो कलावों सहित साहित्यिक ढंगसे, वचनोंकी लीलासे बड़े एक कलाके ढंगसे प्रेम और मोह बढ़ाता है।

पशुरागसे बढ़ा चढ़ा मनुष्यराग— पशु पक्षी भी राग करते हैं, अपने बच्चोंसे अपनी गोष्ठीके पशुवोंसे करते वे सीधा ही राग करते हैं, उनमें और कला कुछ नहीं है। बस खड़े हो गए, पीठ पर गर्दन धर दी, यों ही सीधा हड़मार उनका राग होता है। पर मनुष्यका राग देखो कैसा कलापूर्वक है, कैसा वचनालाप है, कैसा ढंग है? इसका फल यह है कि यह मनुष्य ब्रह्म विद्यासे दूर हो जाता है। ब्रह्म नाम है आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपका। सहज अपने आपके सत्त्वके कारण जो आत्माका स्वरूप है उसके परिचयसे दूर हो रहा है। फल उसका यह है कि संसारमें जन्म और मरण करता है।

ब्रह्म विद्याका अधिकारी— इस ब्रह्मविद्याकी योग्यता भी उन पुरुषों में होती है जो दयालु होते हैं, न्यायशील होते हैं, धन वैभवको ही सर्वस्व

नहीं समझते हैं, ऐसे ज्ञानीसंत पुरुषोंको ही उस ब्रह्मविद्या जानने का अधिकार है। अज्ञानी व्यामोही क्या समझें उस ब्रह्मविद्याको। यह जीव तो इन भोगोंको ही सर्वस्व जानता है। विषय भोग लिया, कषाय करली, जरा लड़ लिया, अपनी देहमें अपनी सत्ता मान कर शान बगरा ली, पोजीशन रखली, नाम जाहिर हो गया तो समझ लेते हैं कि मैंने करने योग्य सब काम कर डाला। पर कहां किया? अभी तो पूरी ही उलझन है। अभिमान किस बात पर करते हो?

व्यर्थका अहङ्कार— जैसे कोई सांड गांवके किनारे लगे हुए गोबर को, घूरेको सींगसे उछाल कर कुछ पीठमें और कुछ अगल-बगल फेंकता है, अपनी टांगे पसारकर, पूँछ उठाकर कमर लम्बी करके, ऊंचा मस्तक करके घमड बगराता है कि मैंने बड़ा काम किया। किया क्या? गोबर उछाला। यों ही यह व्यामोही जीव परपदार्थोंका सचय करके बाहरी व्यवस्था बनाकर, संगको चतुराई बताकर परिवारका बड़ा भरणपोषण करके, मित्रोंका लोगोंका कुछ उपकार करके, सेवा करके गर्वसे यों देखता है कि ओह मैंने बड़ा काम किया। करने योग्य कार्य सब कर डाला। पर किया क्या? केवल कल्पनाओंका कीचड़ उछाला। करने योग्य कार्य जो अंतः पुरुषार्थ है, ज्ञान स्वरसका ज्ञान द्वारा पानकर लेना, यह अभी कहां किया है? करना कुछ और था करने लगे कुछ और।

स्वदयाके मुख्य कर्तव्यसे लापरवाही— भैया! अपने आपकी दया करके करनी करना हो तो अपने जीवनका बहुत कुछ समय सत्संग और ज्ञान उपासनामें व्यतीत करना चाहिए। बाहरी बातोंसे क्या पूरा पड़ेगा? हो लाखोंकी सम्पदा हो गयी। अब क्या होगा और धन जुड़ेगा। करोड़पति हो गए। अब क्या होगा? जो हो रहा है सो आखों देखते या अखबारोंमें पढ़ते हो। चैन नहीं पड़ती। कितनी ही कहां-कहांकी चिंताएं बढ गयीं। और हो गए करोड़पति तो क्या होगा? क्या कभी बूढ़े न होंगे? फिर क्या होगा? तो बूढ़ेमें जब और शिथिलता बढती है तो वहा धन वैभव क्या मदद कर देगा? क्या मरण न होगा? फिर धन वैभव क्या करेगा? ये सब बाहरी संग असार हैं। अज्ञानी जीव स्वदयाके मुख्यकर्तव्यभूत सत्संग और ज्ञानोपासनासे दूर रहता है। इस लापरवाहीसे यह दुःखी रहता है।

सहजस्वभावपरिचयके यत्नकी प्रेरणा— मोही मोहियोंका यहां मेला लगा हुआ है इसलिए असारता चित्तमें नहीं बैठती। परिग्रह संचयमें रहकर दुःखी होते रहते हैं, फिर भी अपने आपको यह विश्वास नहीं होता

कि यह दुःखका सब साम्राज्य है। सुख चाहते हो तो जो कुछ व्यवहारमें आता है वह तो ठीक है, उससे गुजरना चाहिए, निपटना चाहिए, उसमें रहना पड़ता है, उदयाधीन बात है किन्तु बाहरी लगाव है तो भी यत्न इस सहजस्वभावके परिज्ञानके होने चाहियें। ज्ञाता द्रष्टा रहो, जाननहार मात्र रहो। जैसे गैर पुरुषोंको कोई स्थिति बन जाय तो उससे क्षोभ नहीं मानते ऐसी ही मित्र और कुटुम्बीजनोंकी कुछ स्थिति बन जाय तो भी ज्ञानीके अंतरंगमें क्षोभ नहीं आता।

आत्मज्ञानजागृतिमें सन्तोष— साधुजनों को तो, जो उत्कृष्ट योगी हैं उन्हें तो जैसे दूसरोंकी देह की परिणति कुछ हो उससे क्षोभ नहीं आया करता, यों ही अपने देहकी भी कुछ परिणति हो तो उससे भी क्षोभ नहीं आता। गजकुमार मुनिराजके सिर पर गजकुमारके श्वसुरने मिट्टी की पाड़ बांधकर कोयला जलाया और धौंका किन्तु गजकुमार उसके ऐसे ही ज्ञाता द्रष्टा रहे जैसे बाहरमें कोई अंगीठी जल रही हो। यह भी जलती है। मैं तो देहसे न्यारा मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अनुभव होता है तब जब देह और आत्मामें दृढतर भेदविज्ञान हो। अपनी शक्तिके माफिक यहां भी तो घरमें रहते हुए यथासमय भेदविज्ञान जगा हुआ रहना चाहिए, नहीं तो शांति कहां ठहरेगी? ज्ञान अपना सही रहेगा तो शांति संतोष रहेगा और ज्ञान ही दूषित हो गया तो शांति संतोष फिर किस द्वारसे आयेंगे? यह देहमें आत्मत्वका जो भ्रम लगा है इस भ्रमके कारण अज्ञान नामक संस्कार इसका दृढ हुआ है और संसारके कारण आगे भी परभवमें देहको आत्मा मानेगा और यह ही दुःखोंकी परम्परा इसकी चलती रहेगी।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥१३॥

देह पाने व विदेह होनेका उपाय— इस श्लोकमें देह मिलते रहने की और देह न मिलने की औषधि बतायी गयी है। किसी को यदि ऐसी आकांक्षा है कि हमको शरीर मिलता ही रहे तो उनके लिए भी इसमें औषधि बतायी है और कोई यह चाहे कि देह तो संकटका स्थान है, इस देहसे तो छुटकारा होना ही भला है, जिन्हें देह न चाहिए उनके लिए भी औषधि बतायी गयी है। जिन्हें शरीरकी आकांक्षा है कि मुझे शरीर मिलते रहें, उन्हें चाहिए कि मिले हुए शरीरमें यह मैं आत्मा हूं ऐसी बुद्धि बनायें। इस प्रयोगसे उनको शरीर बराबर मिलते रहेंगे। जो जीव देहमें आत्मबुद्धि करते हैं वे निश्चयसे शरीरसे अपने आत्माको जोड़े ही रहते हैं। एक शरीर मिटा दूसरा शरीर मिला, और ये शरीर मिलते रहें,

इनकी परम्परा न टूटे, ऐसी बात बनानेका उपाय है शरीरमें आत्माका विश्वास बनाए रहना। यही मै हूं, जिन्हें इस शरीरका वियोग अभीष्ट नहीं है वे देहमें आत्माकी बुद्धि न करें और अपने आत्मामें ही आत्माकी बुद्धि बनाएं तो यह देह छूट जायेगा।

देह पानेके उपायकी पद्धतिपर एक दृष्टान्त— जैसे किसी मित्रको अपने पीछे लगाए रहनेका उपाय यह है कि मित्रको अपनाते रहें और उससे छूटने का उपाय यह है कि उससे मनमुटाव करले। बूढे पुराने लोग पहिले तो नाती पोतोंको पुचकारते हैं, अपनाते हैं, अपनी मूँछ पकड़वाते हैं, खेल कराते हैं, सो वे पोते अग लग जाते हैं। पीछे फिर वे आफत समझने लगते हैं। बड़ी आफत है। अरे आफत तो इन बूढोंने जान बूझ कर लगायी, उन्हें अपनाया तो वे चिपटने लगे, और पहिलेसे न अपनाएं तो बूढोंका तो चेहरा वैसे ही भयंकर है, हड्डी निकली, दांत निकले, मुँह फैला दें तो डर लगे, तो उनसे बच्चे क्या चिपटेंगे? यह ही उनको अपना कर बोझ लादता है। ऐसी ही बूढोंकी बात, ऐसी ही जवानोंकी तथा बच्चो की बात है। जितना राग दिखावेंगे उतना ही वे लोग चिपटेंगे। वे स्वय ही राग करके कल्पनाएँ बनाकर परसे चिपटे रहते हैं।

कल्पनाकी जकड़— एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है कि एक गृहस्थ राजा जनक को ज्ञानी मानकर एक प्रश्न करने आया—महाराज! मैं बड़ा दुःखी हूं। मुझे गृहस्थीने, स्त्रीने, पुत्रोंने, वैभवने जकड़ रक्खा है, कच्ची गृहस्थी है, मै बहुत जकड़ा हूं, छूट नहीं सकता। कोई उपाय बतावो कि मैं इस झंझटसे छूट जाऊं? तो राजा जनक तो चुप रहे और सामने कोई नीमका पेड़ खड़ा था सो उसको अपनी जेटमें भर लिया मायने पेड़को गोदमें करके दोनो हाथोंसे जकड़ लिया, यह पेड़ मुझे छोड़े तो मैं तुम्हें उत्तर दूं। तो जिज्ञासु गृहस्थ कहता है कि महाराज हम तो तुम्हें ज्ञानी समझकर आये थे और तुम तो यहां बिलकुल बेवकूफी की बात कर रहे हो। कहते हो कि मुझे पेड़ने जकड़ लिया, अरे पेड़ तो बेचारा खड़ा है अपने स्थान पर, हिलता डोलता भी नहीं, तुमने ही उसे पकड़ लिया और कहते हो कि मुझे पेड़ने पकड़ लिया। तो राजा कहता है कि अरे मूर्ख यही तो तेरी दशा है। तू सोचता है कि मुझे परिवारने जकड़ लिया है। तू ही कल्पना करके उनसे ममता करता है और कहता है कि मुझे परिवार ने ज ड़ लिया है।

अपनी योग्यतानुसार अपनी वृत्ति— अंतिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी थे। उनका विवाह हुआ। रात्रिमें सभी सेठानियां जम्बूकुमारके

पास खड़ी होकर कथाएं सुनाने लगीं। और ऐसी कथाएं कहें जिनसे इन्हें यह शिक्षा मिले कि वर्तमान सुखको छोड़कर क्यों भावी सुखकी आशामें तुम घर छोड़कर कष्ट सहना चाहते हो? कितना ही राग लपेटें पर जिसे ज्ञान हुआ है उसके ऊपर वे लागलपेटकी बातें कुछ असर नहीं डालती हैं।

केवल कल्पनाका बोझ— यहां तो कोई एक अकेला पुरुष है, उसके न लड़का है, न लड़की है, न कुछ भार है तब भी वह दूसरेको अपनाकर अपने ऊपर बोझा लाद लेता है। सबका भाग्य जुदा-जुदा है। मगर दूसरों के प्रति तो यह ख्याल है कि इनको हम ही पालते हैं, कहा इनका ऐसा पुरुषार्थ है या भाग्य है? हमारा ही सारा कर्तव्य है, हम ही करते हैं। कोई किसीका कुछ नहीं करता। केवल अपने विचार और कल्पनाएं यह बनाता चला जाता है। विचारनेके सिवाय कोई कुछ नहीं कर सकता। अन्तरमें जीव क्या है, कितना है उसका स्वरूप देखकर उसका निर्णय कर लीजिए।

देहकी फसलका बीज देहात्मबुद्धि— जैसे कोई बड़ा अधिकारी कुर्सी पर बैठे ही बैठे सारी व्यवस्थाएं बना देता है ऐसे ही यह आत्मा राजा अपने प्रदेशोंमें पड़ा ही पड़ा केवल अपने विचारोंको बना बनाकर ये सारी सृष्टियां बनाता रहता है। नारकी हुआ, तिर्यञ्च हुआ, मनुष्य हुआ, देव हुआ, करता कुछ नहीं है परद्रव्यमें। यह तो केवल विचार बनाता है और हो जाता है सारा जगजाल। देह ही देह मिलें इस जीवको इसका उपाय है कि शरीरको आत्मा मान ले कि यह ही मैं हू तो शरीर मिलते रहेंगे। खेती किया, खूब बोया अनाज तो अनाज पैदा होगा। तो शरीर मिलता रहे इस खेतीका बीज यह है कि अन्तर ही अन्तरमें धीरेसे मान लेवो कि यह देह ही मैं हू, बस यह जो कल्पना है यह सर्वशरीरोंकी खेतीका बीज है।

विचित्र फसाव— भैया! देह व आत्मामें कितना अनमेल सम्बन्ध किया गया है? कहा तो देह अचेतन और यह आत्मा चैतन्यस्वरूप। फंसावकी बात देखो, कैसा विचित्र फसाव है? जैसे बैलगाड़ीमें जुवामें एक ओर ऊँट जोत दिया जाय और एक ओर गधा जोत दिया जाय तो कितना लोग मजाक करेंगे कि यह क्या किया जा रहा है? उससे भी अधिक मजाक वाली बात यह है कि कहां तो चित्स्वरूप आनन्दघन आत्मतत्त्व और कहां यह जड़ अचेतन शरीर और ये दोनों एक कल्पनामें जोते जा रहे हैं। यह है सो मैं हूं—ऐसा एकरस किया जा रहा है, पर इस पर हंसे कौन? मजाक कौन करे? सभी संसारमें मोही जीव है, इसलिए कोई

किसीकी बेवकूफी पर हंसता नहीं है। सभी इसी चक्करमे हैं। मोहमें रागमें द्वेषमें कल्पनामे हैं।

संकल्पकी करामात— शरीर मिलता रहे इसकी औषधि ही यह है कि शरीरमें आत्मबुद्धि बनाएं और कुछ नहीं करना है, सब काम बने बनाए हुए रहते हैं। जैसे फटाका होते हैं ना, उनमें सिर्फ थोड़ी आग छुवाना है उसका कितना प्रसार होगा वह सब अपने आप हो जायेगा। यहां तो थोड़ा बटन दबा देना है और सारा यन्त्र चलने लगता है। इसी प्रकार यह जीव तो केवल अपने आपमें देहमें आत्मबुद्धिका संकल्प भर बनाता है, फिर देखो कैसी निमित्तनैमित्तिकपूर्वक शरीरोंकी सृष्टियां चल रही हैं। विकल्प किया, कर्मबंध हुआ, उदयकाल आया और कैसे ये शरीर वर्गणाएं जुड़ जाती हैं, मिल जाती हैं, संचित हो जाती हैं, देहका रूप रख लेती हैं।

निमित्तनैमित्तिक व्यवस्था-- भैया! निमित्तनैमित्तिक भावकी बात जब समझमे नहीं आती है तो एक सुगम कल्पना है इस देशमें कि ईश्वर की विचित्र लीला है, वह ही कहीं बैठकर ऐसी लीला किया करता है, जहां तक समझमें आता है वहां तक तो युक्तियोंसे सिद्ध की जाती है। कुम्हारने घड़ा बनाया, उपादान मिट्टी है, कुम्हार निमित्त है। दण्ड चक्र आदिक निमित्त हैं, इसमे पूरी युक्ति चलती है, किन्तु जहां पर युक्तिका प्रवेश नहीं हो सकता है, यह वहां थक जाता है लेकिन कल्पनामें। परन्तु जैसे कि मोटी बातोंमें निमित्तनैमित्तिकपूर्वक सृष्टिकी व्यवस्था है इसी प्रकार उन सूक्ष्म बातोंमे जिसका मर्म हमारी पकड़में नहीं आता, वहां पर भी निमित्त उपादानकी व्यवस्था है। तो यह तो देहके मिलते रहनेका उपाय है। बस मान भर लेना है कि शरीर मैं हू। इतनी ही कल्पनाके आधार पर सारा जगजाल हो गया।

हैरानी की छुट्टीका उपाय— जिसकी सिद्धिमें, जिसकी जानकारी में हैरानी हटे, उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है कि मै मै ही हूं, इतना ख्याल बना ले, लो छूट गयी हैरानी। जैसे इष्टमित्र या परिजन किसीसे भी छूटने का उपाय क्या है? मनमें सोचले कि जो जो है सो रहो, मैं तो यह हूं, मेरेको बाहरमें करने को कुछ नहीं पड़ा है, किसीसे सम्बन्ध नहीं है। ऐसा सोच भर लीजिए कि छुटकारा हो गया। तो देहसे छुटकारा होनेकी भी वही पद्धति है। मैं आत्मद्रव्य अपने गुणपर्यायका पिण्ड हूं, अन्यपदार्थके गुण पर्यायका पिण्ड नहीं हू। शरीरका मैं कुछ नहीं हूं। मेरा शरीर कुछ नहीं है, क्षेत्रदृष्टिसे मै अपने प्रदेशमें ही रहा करता हूं, यह देह अपने

आधारभूत परमाणुवोंमे ही रहा करता है। देह परमाणु भी अपने को छोड़कर अन्य आश्रयमे नहीं पहुंचता। अन्य कोई जीवद्रव्य भी अपने प्रदेशका आधार छोड़कर इस मुक्त आत्मामें नहीं पहुंचता है। प्रकट इसमें भेद है ऐसा जानकर अपने आत्माको ही आत्मा माने और परका परिहार करे तो उस जीवको शरीरसे सदाके लिए छूट हो सकती है।

देहसे छुटकारेमें ही आरम्भ— अहा, कोई तो शरीरसे छुट्टी हो जायेगी, शरीर न रहेगा ऐसा सोचकर विषाद करते होंगे कि शरीरके लिए ही तो सब दुनिया है, शरीर हृष्टपुष्ट है, तगड़ा है तो सब कुछ है। शरीर ही बिगड़ गया, कुछ न रहा तो कुछ नहीं है। मोटी दृष्टिसे यह बात ठीक बैठ जाती है जल्दीमे। पर यह बात क्या गलत है कि इस आत्माका इस देहसे कब तक पूरा पड़ेगा? छूटेगा नहीं क्या? अरे जब तक सम्बन्ध है तब तक भी इस देहके कारण वास्तविक आराम नहीं मिलता है।

चार देहातियों के बोलमे एक शिक्षा— चार देहाती आदमी थे तो उन्होंने सोचा कि राजा भोजके दरबारमें कवितावोंमें बड़े-बड़े इनाम मिल जाते हैं, अपन भी एक कविता ले चलें। सो चले राजदरबारको। रास्तेमें उनमेंसे एक पुरुषने बुढ़ियाको रहटा कातते हुए देखा तो उनमेसे वह एक बोला कि मेरी कविता बन गयी। उन तीनों ने कहा—सुनावो। सुनो— 'चनर मनर रहटा भन्नाय।' जब थोड़ा और आगे चले तो दूसरे देहातीने देखा कि एक जगह तेलीका बैल खली भुस खा रहा है। सो उसने कहा कि हमारी भी कविता बन गयी, अच्छा सुनावो। सुनो 'तेलीका बैल खली भुस खाय।' अब आगे मिल गया कंध पर पींजना रखे हुए एक धुनिया। उसको देखकर तीसरे ने कहा कि हमारी भी कविता बन गयी। अच्छा सुनावो। सुनो 'वहासे आ गये तरकसबद।' तीन देहातियोंकी तो कविताएं बन गयीं। चौथे से कहा कि तुम कुछ बनावो। उससे कुछ बने नहीं। सो तीन देहातियों ने कहा कि अगर तुम कविता न बनाकर बोलोगे तो जो इनाम राजा देगा उसे हम तीनों बांट लेंगे, तुम्हें न देंगे। सो वह चौथा बोला कि हम पहिलेसे कविता नहीं बनाते। हम आशु कवि हैं, हम तो मौके पर ही बना लेते है।

चार देहातियों का कवित्व— अब चले वे चारों राजदरबारको। दरबानसे बोले कि जावो महाराज साहबसे बोलो कि आज चार महाकवीश्वर आये हैं। राजासे दरबान ने कहा कि महाराज आज चार महाकवीश्वर आये हैं। राजा ने उन्हें बुलाकर कहा कि सुनावो अपनी कविता। सो एक लाइनमें खड़े होकर वे क्रम-क्रमसे बोलने लगे। सो चौथा

छंद जो कहे उसे समझ लेना कि यह चौथे. देहातीने बनाया है। सुनो, 'चनरमनर रहटा मन्नाय। तेलीका बैल खरी भुस खाय॥ वहांसे आ गए तरकसबंद। राजा भोज हैं मूसरचंद॥' अब राजा पंडितोंसे कहता है कि पंडितों! इस कविताका अर्थ लगाओ। अब कवितामें कोई सार हो तो वे अर्थ लगावें।

चारों देहातियोंकी कविताका अर्थ— उनमें से एक वृद्ध कवि उठा और कहा कि हम इसका अर्थ लगाते हैं, आप सुनिये। ये महाकवीश्वर हैं, इनकी कवितामें बड़ा मर्म भरा है। पहिली कवितामें कविने यह कहा कि यह शरीर चनरमनर रहटासा मन्नाया करता है। यहां गया, वहां गया, २४ घंटे रहटाकी तरह यह शरीर चनरमनर मन्नाता ही रहता है, और दूसरे कविने यह कहा कि यह जो जीव है सो कोल्हूका बैल जैसा बन रहा है, दूसरोंके लिए कमाता है और खुद खरी भुस जैसा खाता है। दूसरोंके लिए खूब धन कमाकर रख जाते हैं, अभी मुन्नाके लिए इतना धन और कम है, इतना कमाकर धरदें कि चार पीढी तकके लोग खायें। इस तरह दूसरोंके पीछे श्रम करते और स्वयंका जीवन शुष्कसा व्यतीत करते। न खुद सुखसे रह सकें और न दान पुण्य कर सकते हैं। ऐसा जीव कोल्हूका बैल जैसा खली भुस खाता है। और तीसरे कविने यह कहा कि इतनेमें ऊपरसे आ गए तरकसबंद मायने यमराज आ गये, मरणकाल आ गया, तो ये चौथे महाकवीश्वर साहब यह फर्मा रहे हैं कि ऐसी स्थिति है, फिर भी राजा भोज मूसरचंद बने बैठे हैं। राजा सुनकर प्रसन्न हुआ कि ये ठीक कह रहे हैं। उन्हें राजाने इनाम दिया।

विदेह होनेका उपाय— ये शरीरकी मनकी और वचनकी सब चेष्टाएं करना और उन्हें अपनाना, ये सब शरीरबन्धनके कारण हैं। शरीरसे छुटकारा पाना है तो उसका उपाय देहसे अपने को न्यारा अनुभव करना। यही विदेह होनेका अमोघ उपाय है। घरेलू आध्यात्मिक मंत्र है यह कि 'देहसे भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूं' ऐसी बार बार भावना करो। बिना माला लिए, बिना अंगुली पर गिने, पड़े हों तो पड़े ही पड़े, बैठे हों तो बैठे ही बैठे, बारबार यह भावना करे कि देहसे भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूं। और भावनाके साथ साथ ऐसा अपनेमें चित्रण भी बना लें कि हां है तो यह सही देहसे भी न्यारा और अपने ज्ञानस्वरूप मात्र। 'देहसे भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूं', इस तत्त्वकी बारबार भावना करनेसे देहसे छुटकारा होता है। इस श्लोकमें देहके मिलते रहनेका उपाय बताया है और देहसे छुटकारा पानेका उपाय बताया है। अब जो उपाय भाये सो करो।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
संपत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

देहमें आत्मबुद्धि होने से विडम्बनाका विस्तार— पूर्व श्लोकमें यह बताया है कि जो जीव देहको आत्मा मानता है वह तो देहसे अपनेको जुड़ाये रहता है, जन्म जन्मान्तर पाये हुए है । और जो जीव देहसे भिन्न अपने आत्मामें ही अपने आत्माका निश्चय करता हो वह इस देहसे छूट जाता है । अब इस छन्दमें यह बताया जा रहा है कि देहमें आत्मबुद्धि करने से फिर कैसी-कैसी विडम्बनाकी नौबत आती है । देहमें 'यह मैं हूं' ऐसी आत्मबुद्धि होनेसे फिर अन्य देहोंमें 'यह अमुक है' ऐसी बुद्धि होती है और फिर दोनों जगहोंका सम्बन्ध जोड़ा जाता है ।—यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा अन्य कुछ है, ऐसी कल्पनाएं उत्पन्न हो जाती हैं । और इतना ही नहीं कि आखिर यही कल्पना हुई हो, उस कल्पनाके फलमें यह जीव पुत्र स्त्री आदिकको ही अपनी सम्पत्ति मानता है ।

अज्ञानियोंके स्त्रीसे महत्त्वकी समझ— भैया ! इतने पुरुष बैठे हैं, हमारी समझमें ९० प्रतिशत पुरुष अपनी स्त्रीकी बड़ाई करते हुए मिलेंगे, १० प्रतिशत होंगे ऐसे जो स्त्रीकी बुराई करते हों । मोहमें प्रायः ऐसी ही बुद्धि जगती है कि इसमें ही बड़प्पन समझते हैं कि मेरी स्त्री बड़े अच्छे स्वभावकी है और कोई कोई इतना तक कह बैठते हैं कि हमारी जैसी स्त्री कहीं न मिलेगी । क्या सारी दुनियामें न मिलेगी ? पर ऐसी कल्पना बन गयी है कि पुत्र और स्त्रीको अपनी सम्पत्ति मानते हैं, बड़प्पन मानते हैं । मैं बड़ा हूं क्योंकि मेरी ऐसी स्त्री है, मेरे ऐसे पुत्र हैं, मुझसे बड़ा और कौन होगा अर्थात् बड़प्पन पुत्र स्त्रीके माप पर किया जाता है और इसी कारण यह सारा जगत बरबाद हो रहा है ।

परिजन वैभवसे महत्त्व माननेकी मूढ़ता— भैया ! जगत तो क्या, मनुष्यों की ही बात देख लो । कहते हैं लोग कि जब तक इसकी शादी नहीं हुई तब तक यह द्विपद कहलाता है, दो पैर वाला कहलाता है, और जब शादी होगई तो चार पैर वाला कहलाता है । एक ही जीव हो और चार पैर हों तो उसका नाम है चौपाया (पशु) । पर जीव दो हैं तब चार पैर हैं, इसलिए पशु नहीं कहलाया । एक ही हो और एकके ही चार पैर हैं तो पशु कहलानेकी नौबत आए, चौपाये कहलानेकी नौबत आए । फिर हो गए बालबच्चे तो षट्पद हो गए । अब भौंरेकी तरह घूम-घूमकर सर्वत्र चक्कर लगाता है । और फिर और बच्चे हो गए, पोता नाती हो गए तब तो आगे

क्या बतावें ? जिसके अधिक पैर हों ऐसे कोई जानवरका नाम ले लो। इसमें कुछ बिगाड़ नहीं है। जितने चाहे परिजन हो जायें, मगर उनसे अपना बड़प्पन समझें कि मैं इनके कारण बड़ा हूं तो यह खराबी है। होने को कितने हीं हो जायें। यह तो संसारकी स्थिति है पर उनसे अपना बड़प्पन मानना मूढ़ता है।

गुणविकासमें महत्त्व— भैया ! बड़प्पन मानो अपने गुणविकास का। मेरा मन कितना शुद्ध है, मेरे विचार कितने पवित्र हैं, मेरी दृष्टि बन्धनरहित ज्ञायकस्वरूप निज तत्त्वमें कितनी देर लगती है और मैं उस शुद्ध ज्ञानानन्दरसका कितना स्वाद लेना हूं, मै अपनेको एकत्व स्वरूपमें कितना लगा सकता हूं—यह बात होती हो तब तो है बड़प्पन और इसके विपरीत स्थिति है, अपनी खबर नहीं, बाहर-बाहरकी ओर दृष्टि है तो ऐसी स्थितिमें कुशल नहीं है।

परिसंगसे विपत्ति— एक साधुजी के पास एक बालक शिष्य पढ़ता था। १८, १९ वर्षकी उम्र हो गयी। उसे खूब पढ़ाया था। अब वह बालक बोला कि गुरुजी हमें इजाजत दो तो हम तीर्थयात्रा कर आएं। तो गुरुजी बोले कि आत्मा ही तीर्थ है, इसके स्वरूपका अभ्यास करो। कहां भ्रमण करते हो ? शिष्य बोला, नहीं महाराज हमें आज्ञा दो। अच्छा बेटा नहीं मानते हो तो जावो। वह चला यात्रा करनेको। बहुत आगे जाकर देखता है कि बहुत आदमी गाजे बाजे पालकी सहित आ रहे हैं। सो उनके आने पर वह पूछता है कि यह क्या चीज है ? तो लोगोंने बताया कि यह बरात है। बरात कैसी होती है ? अरे उसमें एक दुल्हा होता है उसे ही बरात कहते हैं। सो दूल्हाका मतलब क्या है ? एक बराती ने कहा कि एक जवान लड़का होता है, उसकी शादी होती है, फिर उसके बच्चे होते हैं, घर चलता है, इसका नाम है बरात। इतना सुनकर आगे बढ़ गया। रास्ते में बड़के पेड़के नीचे एक कुवा था, जिसकी मुड़ेल उठी न थी। एक निर्जन स्थानमें था। वह कुवे के निकट सो गया। अब उसे स्वप्न आया कि मैं सो रहा हूं, मेरे पास मेरी स्त्री सो रही है और बीचमें एक बच्चा सो रहा है। स्त्री कहती है अरे जरा सरक तो जावो, बच्चेको तकलीफ हो रही है। सो स्वप्नमें विचार तो आते हैं स्वप्नके, मगर कभी शरीरकी सचमुच क्रिया हो जाती है, जब तेज स्वप्न आता है। तो वह जरा सरक गया। दुबारा स्त्री ने फिर कहा कि थोड़ा और सरकिए, वह थोड़ा और सरक गया, तिबारा फिर थोड़ा सरकने को कहा। तो ज्योंही तिबारा थोड़ा सरका तो वह कुवेंमें गिर पड़ा। अब उसकी नींद खुल गयी। सारी विपदा

दिखने लगी।

इतने में एक जमीदार आया। सो उसने डोरमें लोटा फंसाकर कुवे मे पानी भरने के लिए डाला तो उसने उसे पकड़ लिया। और भीतरसे ही चिल्लाया, भाई डरना नहीं, मैं एक आफतका मारा आदमी हूं, मैं गिर गया हूं, मुझे निकाल लो, फिर मैं सारी कहानी सुनाऊंगा। उसे निकाल लिया। अब जमीदार पूछता है कि तुम कौन हो, कैसे इसमें गिरे? तो वह लड़का कहता है कि महाराज तुमने बड़ा उपकार किया। मेरी जान बचायी। तो जो उपकारी हो उसका परिचय पहिले मिलना चाहिए। सो कृपा कर आप ही अपना परिचय दें। तो जमीदार बोला कि अरे मेरी क्या पूछते हो? मैं एक बड़ा जमीदार हूं, १० गांवमें मेरी खेती है, ६० जोड़ी बैलोंकी हैं। लड़के हैं, उनकी बहुवें हैं, उन सब बहुवोंके भी लड़के हैं। ५०, ५२ बाल बच्चों का कुटुम्ब है। हमारा क्या परिचय पूछते हो? तो वह लड़का कभी उसके सिरकी ओर देखे, कभी पीठ देखे कभी पैर देखे। तो जमीदार कहता है कि क्या तुम मेरी डाक्टरी कर रहे हो? कभी सिर की ओर देखते, कभी पैरोंकी ओर देखते, कभी पीठकी ओर देखते? तो वह लड़का बोला कि मैं यह सोच रहा हूं कि मैंने तो स्वप्नमें गृहस्थी बसायी थी, सो कुवेमें गिर गया और तुमने सचमुचकी गृहस्थी बसायी है और अभी तक जिन्दा हो।

आत्महितमें ही वास्तविक जीवन— सो भैया! जिन्दा तो सब हैं ही पर जिनके आत्महितकी दृष्टि नहीं हुई, बाहर ही बाहर संचय और परिजनमें दृष्टि है उन्हें जिन्दा व्यवहारीजन कहें तो कहें, मगर वह जीवन ही क्या कि जहां अपने आनन्दघन शुद्ध पवित्र स्वरूपका दर्शन भी न हो सके और बाहरी-बाहरी उपयोगमें ही चित्त उलझा हुआ रहे। वह जीवन यदि जीवन है तो मरण किसका नाम है? यह बहिरात्मा शरीरमें आत्मबुद्धि करके पुत्र स्त्री आदिककी कल्पना करता है, और मान भी लें इतनेमें बिगाड़ नहीं है पर उनके कारण अपने को सम्पत्तिवान् समझते हैं, अपना बड़प्पन जानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं "हा हतं जगत्" उनको इस जगत के जीवोंकी विपत्ति दिख रही है, इसलिए वे खेदके साथ कह रहे हैं कि हा संसार बरबाद हुआ जा रहा है।

रागका विश्वपर शासन— ऐसी ही किंवदन्ती है कि ब्रह्माजीके पेट में ५ जीव आनन्द कर रहे थे—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और स्त्री। सो ये जब बहुत किलोल करें तो उनका पेट दुखने लगा, तो ब्रह्माजी बोले कि अरे

निकलो बाहर। पहिले ब्राह्मण देवतासे निकलनेको कहा। तो ब्राह्मण देवता बोला कि हमें तो तुम्हारे पेटमें बड़ा मौज है, हमें न निकालो। तो ब्रह्माने कहा कि निकलो हम तुम्हें एक अच्छा काम देते हैं, लोग तुम्हें पूजेंगे, हाथ जोड़ेंगे। सो ब्राह्मण तो निकल गया। क्षत्रियसे कहा निकलो बाहर हम तुम्हें बढ़िया काम देते हैं तुम प्रजा पर राज्य करना, शासन करना, मस्त रहना। वह भी निकल गया। वैश्यसे कहा कि निकलो। तुमको बढ़िया काम यह देते हैं कि रोजिगार करना, व्यापार करना, खूब धन कमाना, मालोमाल होना, सेठ साहूकार कहलाना। वह भी निकल आया। शूद्रसे कहा निकलो बाहर। अरे थोड़ी सेवा ही तो करना है, और बिना परिश्रम धन लूटो। वह भी निकल गया। अब स्त्रीसे कहा कि तू निकल। तो स्त्रीने कहा कि हम नहीं निकलते, वे सब कम बुद्धिके थे सो निकल गए। हम तो तुम्हारे पेटमें ही मौज लेंगी। तो ब्रह्मा बोले, अजी हम तुम्हें अच्छा काम देते हैं—देखो थोड़े राग वचन कह देना, थोड़ा अपने हाव भाव दिखा देना, फिर तुम सारे जगतके ऊपर एकछत्र शासन करना। सो ऐसा एक छत्र शासन करनेका अधिकार मिला, और वही जिसके अण्डरमें हो वह क्या बड़प्पन न चाहेगा? ऐसी लोक रीति है।

मोहमद— जीवने इस परिजनके सम्बन्धमें अपना बड़प्पन समझा अपनी स्त्रीसे अपना बड़प्पन समझा और यही एक मदिरा पीना हो गया, होश न रहा। और उनमें भी भेद भावना हो गयी। उनके लिए मातासे बड़ी स्त्री हो गयी। कभी माता और स्त्रीमें झगड़ा हो जाय तो पति किसका पक्ष लेगा? ऐसा नियम तो नहीं है पर प्रायः करके पति अपनी स्त्रीका ही पक्ष लेगा। दूसरे समझायें कि अरे माता है, उसकी खबर रक्खो, तो वह कहेगा कि अरे क्या बताएं माता बिलकुल उल्टा-उल्टा चलती है। अरे अब चलने लगी उल्टा। और जब तुम बच्चे थे, तुम्हें लाड़प्यारसे पाला, तुम्हारी सूरत देखकर जिन्दा रही और तुम्हारी ही खुशीमें खुशी माना, अगर तुमने खाटपर मूत दिया हो तो स्वयं गीली मूत भरे वस्त्र पर लोटती और तुम्हें सूखेमें लिटाती थी और आज वह उल्टी हो गयी उस लड़केकी दृष्टिमें।

देहात्मबुद्धिके नशेका विस्तार— भैया! मोहमें कितनी कल्पना होती है, कैसा कषायभाव होता है, स्त्रीसे कितना बड़प्पन माना है? कभी यात्रामें जाते हैं ना आप लोग स्त्री समेत तो रेलसे जब उतरते हो तो कुलीकी तरह तुम लदते हो कि तुम्हारी स्त्री? बिस्तर, पेटी, तुम ही तो लादते हो और स्त्री बड़ी शान शौकसे चलेगी हाथमें बटुवा लेकर ऊंची

एकीकी पनहिया पहिनकर। इसमें ही पुरुष अपनेमें बड़प्पन महसूस करता है। कोई यार दोस्त मिल जाय बात करनेको और वह जान जाय कि इन की बेगम बहुत शानसे और बहुत ढंगसे रहती है, इसमें ही खुश हो रहे हैं। इन परिजनके कारण यह बहिरात्मा अपने आपको बड़ा मानता है, और न भी कुछ कहे, न बड़ाई करे, न रंग ढंग दिखावे तो मनमें तो उस सब कुटुम्बका चित्रण बना ही रहता है। और शायद भगवान्के दर्शन करते हुए भी भगवान को भी स्त्री पुत्रसे बड़ा न मान पाता हो। इतना आदर प्रभुका भी मनमें नहीं होता जितना आदर परिजनका करते हैं। ऐसा विचित्र यह महा मोह मद इस जीवने पिया है उसका कारण केवल यह ही एक है कि शरीरमें उसने यह मैं आत्मा हूं ऐसी बुद्धिकी।

भ्रम मूलके विदारणमें विडम्बनाओंके हटावपर एक बाल दृष्टान्त—भैया! देहमें आत्मबुद्धि मिट जाय तो फिर ये सब व्यामोहकी विडम्बनाएं समाप्त हो सकती हैं। बच्चोंकी गोष्ठीमें कहानियां और गप्प चलते हैं ना। तो उनकी एक कहानी है कि स्यालनीके गर्भ रह गया तो स्यालसे बोली कि अब कहां बच्चे पैदा करें, स्थान तो बतावो? तो स्यालने एक शेरका घर बता दिया कि तुम शेरके बिलमें अपने बच्चे जन्मावो। अरे वहां तो शेर आयेगा। परवाह नहीं है, कुछ साहस रूप वचन कह दिया और कानमें मंत्र फूंक दिया। अच्छा जन्मने दो। अब शेरके बिलमें पैदा हुए बच्चे। उसके बहुत ऊपर एक छोटीसी भींत थी। सो उस पर जाकर स्याल बैठ गया ताकि दूरसे देखले कि शेर तो नहीं आ रहा है। जब शेर पासमें आया तो स्यालनीने बच्चे रुला दिये। सो स्याल पूछता है कि अरे रानी! ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो कहती है कि राजन ये बच्चे शेर का मांस खानेके लिए मांगते हैं। शेरने सुना सो डरकर भाग गया। अरे हमारा भी मांस खाने वाला कोई है। ऐसे ही १०, २० शेर डरकर भाग गए। अब शेरोंने गोष्ठी की कि अपन को तो यह मालूम पड़ता है कि जो यह शिखरपर चढ़ा हुआ है उसीकी सारी बदमाशी है, अपन हिम्मत करके चलें और उसे पकड़कर गिरादें।

शेरोंने सलाहकी कि कैसे वहां तक चढ़ें? कहा कि एक शेरके ऊपर एक इस तरहसे सभी चढ़ जायें। सबने सोचा कि ठीक है। पर सबसे नीचे कौन रहे? सोचा कि एक शेर जिसकी टांग-टूटी है वही नीचे रहे क्यों कि वह ऊपर चढ़ नहीं सकता। सो नीचे लंगड़ा शेर रहा और एकके ऊपर एक चढ़ते गए। जब स्यालके निकट शेर आ गया तो स्यालनी ने बच्चे रुला दिये। अब स्याल पूछता है कि अरे रानी ये बच्चे क्यों रोते

हैं ? स्यालनी कहती है कि राजन् ये बच्चे लंगड़े शेरका मांस खाना चाहते हैं। इतना सुनकर लंगड़ा शेर डरकर भागा। अब सभी शेर भद भद करके एकके ऊपर एक गिर गए। अब तो सभी शेर डरकर भागे और फिर आगे आनेकी हिम्मत भी न की तो जैसे वे सारे शेर एक लंगड़े शेरके आधार पर थे, लंगड़ा शेर खिसका तो सभी शेर गिर गए और भग गए, ऐसे ही ये जो सारी विडम्बनाएं हैं। धन कमाना, सचय करना, परिजन को प्रसन्न करना, ये सारी सारी विडम्बनाएं एक इस भूलपर आधारित हैं कि देहको इसने आत्मा मान लिया। मिथ्यात्व, मोह, पर्यायवुद्धि देहमें आत्मत्वकी कल्पनाएं जिनके आधार पर सारी आफतें विडम्बनायें पड़ी हुई हैं, ये अवगुण सारे मिटा दिये जायें तो ये सारी विडम्बनाएं खदरबदर हो जायेंगी।

दृष्टिका माहात्म्य— हे भैया ! सब एक दृष्टिका अन्तर है। ज्ञानी चक्रवर्तियोंके हजारों परिजन रहे हों, हजारों रानियां रही हों, लेकिन उनकी दृष्टि स्वच्छ थी, सो उनके कोई विडम्बना न थी। एक अपने ज्ञानको सभाल लेने पर फिर कोई विडम्बना नहीं रहती। काम वे ही हैं, परिणतियां वे ही हैं, केवल एक दृष्टिके फेरसे विडम्बनाएं होना और विडम्बनाएं न रहना, ये दोनों बातें हो जाती हैं। यह जीव देहमें आत्मबुद्धि करके ये सब कुटुम्ब मान रहा है। इसीलिए उसको अपनी महत्ता कुटुम्बके कारण ही समझमें आती है। बच्चे हैं, कुल चलेगा। अरे जिस भवसे आया उस भवके कुलकी भी खबर नहीं है कि किस कुलमें पहिले थे ? तब यह भी कुल क्या है ? तुम एकाकी हो, सारे जीव तुमसे अत्यन्त भिन्न हैं।

शान्तिका उपाय निजस्वरूपकी झलक— ये मोही प्राणी उल्टा चलते हैं। जो अपने विनाशका हेतु है उसे मानते हैं कि यह मेरी सम्पत्ति है। सारी विडम्बनाएं इस देहाध्याससे हैं। इसलिए पढ़कर, गुनकर ध्यान करके, प्रयोग करके एक इस बातकी झलक ले लें कि देह तकसे न्यारा ज्ञानानन्दस्वभावमात्र मैं आत्मतत्त्व हूं। ऐसे विविक्त निजस्वरूपकी झलक आजाय तो बेड़ा पार है, और एक इस ही निज स्वरूपकी झलक न आ सके, बाहर ही बाहर मोह नींदके स्वप्न देखते रहें तो जिन्दगी तो निकल ही जायेगी। यह समय रुकता नहीं है पर दुर्लभ मनुष्य जीवनकी समाप्ति के बाद कदाचित् कीडे मकोड़े या स्थावर पेड़ वगैरह हो गए तो अब वहां कितने ही क्लेश मिलेंगे। वहां सुख व शांतिकी क्या आशा की जाय ? अब मनुष्य हुए तो इस मनुष्य जीवनमें तो कुछ सावधानी रहे।

ज्ञानरसास्वाद— भैया ! कितना अन्तर है विषयोंके रसमें और

ज्ञानके रसके अनुभवमें ? ज्ञानरसके स्वादमें वर्तमानमें भविष्यकालमें सर्वत्र शांति ही शांति है और एक विषयोंके प्रसंगमें प्रारम्भमें, वर्तमानमें भविष्य में अशांति ही अशांति है। सो सारी विडम्बनाएं मिटाना है तो एक विज्ञानघनैकरस निज आत्मतत्त्वको झांक लो और इस देहसे अपनेको अत्यन्त पृथक मानो, स्वरूपदृष्टि करो। फंसे हैं, अलग नहीं हो सकते, यह तो है परिस्थितिकी बात, फिर भी देहसे अत्यन्त न्यारा हूं—ऐसा चिंतन करना यह है ज्ञानसाध्य बात। तो इस ज्ञानभावनासे ही हम विपत्तियोंसे दूर हो सकते हैं। इस कारण सर्व यत्न करके एक इस ज्ञानभावना को भावो और ज्ञानरसका स्वाद लेकर आनन्दमग्न हो, इससे ही सर्व बाधाएं दूर होंगी।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥१५॥

सकल संकटोंका मूल— संसारके जितने भी क्लेश हैं, उन सब क्लेशोंका मूल कारण शरीरमें अपने आत्माकी बुद्धि करना है। क्या क्या क्लेश होते हैं जन्म, मरण, रोग, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी ये सभीके सभी क्लेश इस कल्पनापर आधारित हैं कि यह देह मैं हूं। देह मैं हूं, ऐसी बुद्धि होने पर जन्मका क्लेश है, और देहमें आत्मबुद्धि करने वालेका जन्म चलता ही रहता है। मैं जन्मा, ऐसी अन्तरमें बुद्धि बनी हुई है, उससे इस आत्माको कष्ट होता है। मरणका भी कष्ट तभी है जब शरीरमें आत्मबुद्धि की जा रही है। शरीरका तो मरण है ही नहीं और मरण किसी भी पदार्थका नहीं है। शरीर शरीरमें है, जीव जीवमें है। जीव निकल गया शरीर रह गया। अब अप्रयोजन जानकर अथवा यह सड़ेगा और लोगोंको तकलीफ देगा, बदबू फैलेगी, रोग बढ़ेगा इस ध्यानसे उसे जला देते हैं या गाड़ देते हैं या नदीमें बहा देते हैं। सो उस देहके अणु राखके रूपमें या अन्य रूपमें बिखर जाते हैं। अणु हैं परमार्थ सत् उनका विनाश कभी नहीं होता है, कभी नष्ट नहीं होता किन्तु देहमें आत्मबुद्धिका भ्रम बना हुआ है तो देहके वियोगको यह मरण जानकर अपना विनाश जानकर दुःखी रहा करता है।

देहात्मबुद्धिमें बुढ़ापाका क्लेश— बुढ़ापा भी देहका क्लेश है किन्तु बुढ़ापाका भी दुःख तभी है जब देहमें आत्मबुद्धि कर रक्खी हो। अनुभव करके भी देखलो, जो बूढ़े हैं वे कुछ थोड़ा अनुभव करके भी देख सकते हैं कि जब देहकी ओर ख्याल न रहे, देह मुझमें लगा है यह भी ध्यान न रहे और यह आत्मा केवल अपने ज्ञानस्वरूप आत्माको लखता रहे तो उस

समय वह अपने को बूढ़ा शिथिल समझ ही नहीं रहा। ऐसी तो कितनी ही घटनाएँ हो जाती हैं कि देहका भान नहीं रहता। घरके काम काज इतनी लगनसे किए जाते हैं कि उपयोग अन्य काममें है तब मेरे शरीर भी चिपका है यह ध्यान नहीं रहता। यह तो एक लड़कपन है। वैसे तो संस्कारमें, ध्यानमे पड़ा हुआ है लेकिन जब यह आत्मा अपने ही स्वरूप को निरख रहा हो, आंखे बंद करे, मौन रह जाय, किसी का ध्यान न करे, अपने आपकी अपनेमें खोज करनेका आग्रह करले ऐसी स्थितिमे वह क्षण आ सकता है जिस क्षण शरीरकी याद ही न रहे, तब क्या बुढ़ापेका उसे दुःख है ? बुढापेका भी दुःख शरीरमें आत्मबुद्धि होती है तो होता है।

ज्ञानवृद्धके शरीरवृद्धता सम्बन्धी क्लेशका अभाव— यह बुढ़ापा दुःखके ही लिए हो, तो जप, तप, व्रत, साधना करना व्यर्थ है। अरे सारे जीवन भर तप करे, व्रत करे और हो गया बुढापा सो सारी कसर निकल भागेगी क्योंकि बुढ़ापा क्लेशके लिए ही होता है, सो ऐसी बात नहीं है। बुढ़ापा क्लेशके लिए उनको है जिनकी इस शरीरमें ही 'यह मैं आत्मा हूं' ऐसी मान्यता रहती है। दुःख दूर करना है तो शरीरमें आत्मबुद्धिकी मान्यता समाप्त करो। दुःख दूर करने के लिए जो बाहरी यत्न किए जाते हैं, अब इतना धन जोड़ लें, इतने मकान बनवा लें, इतना नाम बनालें तब सुख होगा तो यह काम तो मेंढक तौलनेके बराबर है। कोई एक किलो जिन्दा मेंढक क्या तौल सकेगा ? नहीं तौल सकता। अरे दो चढ़ावोगे तो दो उचक कर भग जायेंगे। इसी तरह इस जगतके कामोंमें दो काम बनेंगे दो बिगड़ेंगे। कहां तक बनावेंगे ? और बना भी नहीं सकते। अपने आत्मामें दुःखोंके बिकल्प किए जा रहे हैं। तो देहमे जिसने 'यह मैं आत्मा हू' ऐसी बुद्धि बनाई है, उनको बुढापेका भय है। योगीजनोंके तो जैसे बुढापा आता है वैसे ही उनके अन्तरमे निखार बढ़ता जाता है। प्रकृत्या भी यह बात होती है कि जब मरनेको होते हैं तो मनमें साहस आ जाता है कि क्या करना है घर बारका ? मोह दूर होनेका वह कुदरतन एक मौका है। विशेषकर व्यामोही जीव होते हैं जो मरणके समयमें ज्ञान और वैराग्य न पाकर उल्टा मोह ममताको बढ़ाते रहते हैं।

देहात्मबुद्धिके रोगका क्लेश— रोगसे भी बडे क्लेश होते हैं। जब चंगे होते हैं तब बहुत बातें करना आता है। पुद्गल जुदे हैं, आत्मा जुदा है। रोग किसको होता है ? पुद्गलको। और जब सिरमे दर्द होता है तो अमृतांजन लगाए बिना चैन नहीं पड़ती है, मंगावो बाजारसे। रोगका भी बड़ा कठिन क्लेश है पर इसमें भी अनुभव करके देख लो। यदि देहमे

आत्मबुद्धि लगाया है तो वे क्लेश बढ़ेंगे और देहमें आत्मबुद्धि नहीं लगाया है तो वे क्लेश कम हो जायेंगे। जिसके दृढ़तर भेदविज्ञान हुआ है वह सिंहोंके द्वारा खाया जाने पर भी, शत्रुवोंके द्वारा कोल्हूमें पेला जाने पर भी और अनेक आततायियोंके द्वारा सताये जाने पर भी रंच भी खेद नहीं मानता। ओह कितना दृढ़ भेद विज्ञान है, संसारके किसी भी पदार्थ से अब अपेक्षा नहीं रही।

देहात्मबुद्धिके पोजीशनका क्लेश— भैया! जगतमें किस पदार्थमें सार पड़ा हुआ है? मानने की बात और है। सबसे बड़ा क्लेश तो इस मनुष्यने यह माना है कि मेरी कहीं पोजीशन न घट जाय, मेरा अपमान न हो जाय, मुझे कोई तुच्छ न कहने लगे। यह शल्य इतना विकट अन्तरङ्गमें पड़ा हुआ है कि कोई भी काम धर्मके विधिपूर्वक नहीं हो पाते। ३४३ घनराजू प्रमाण इतने महान् विस्तार वाले लोकमें यह नगर कितनी सी जगह है! अगर इस नगरके सब लोग भी अपमान करने वाले बन जायें तो भी क्या है? अपने को तो मरकर न जानें कहां भगना है, न जानें कहां पैदा होना है? अथवा यहा पर भी कोई किसीमें परिणमन नहीं करता किन्तु शल्य बनाया जाता है।

विवेकी गृहस्थ— यद्यपि गृहस्थावस्थामें इसकी आवश्यकता है थोड़ा नाम रखने की, पोजीशन बनाए रहनेकी, इसके ही बहाने इसके ही आड़में अनेक पाप बच जाते हैं किन्तु अन्तरमें सम्यग्दर्शन नहीं है, सर्व पर और परभावोंसे विविक्त अपने आत्मतत्त्वकी श्रद्धा नहीं है तो इस नाम और पोजीशनसे क्या पा लोगे? शांति तो मिलेगी नहीं। कैसा खिंचा-खिंचा फिर रहा है यह उपयोग! अज्ञानकी रस्सीके बंधनसे अपने आपके ठिकाने का तो स्पर्श भी नहीं करता, एकदम बाहर-बाहर ही दौड़ भाग मचाए जा रहा है और दूसरे जीवोंके रागवश अपने आपको कष्टमें डाल रहा है, पीड़ित करता रहता है। अनेकोंका व्यर्थ दास बनना पड़ता है एक विषयों की इच्छा मात्रसे।

देहात्मबुद्धिमें इष्टवियोग व अनिष्टसंयोगका क्लेश— इष्टवियोग हो जाना इसमें भी क्लेश देहमें आत्मबुद्धिके सम्बन्धसे है। देहको मानना कि यह मैं आत्मा हूं, पर देहको मानना कि यह पर आत्मा है और इनका मेरेमें सम्बन्ध है, इष्ट है, मित्र है, मेरा साधक है, तो देहके नातेसे ही तो इष्ट कहलाता है। तब इष्टवियोगका जो क्लेश है वह भी देहमें आत्मबुद्धि करनेसे हुआ। अपने विषयोंमें जो बाधक पड़ता हो उसे मानते हैं लोग अनिष्ट। अब यह सामने गुजरा तो अनिष्टका संयोग होने पर जो क्लेश

होता है उसका भी कारण देहमें आत्मबुद्धि करना है। और भी क्लेशोंके सारे नाम लेते जावो। वे सब देहमें आत्मबुद्धि करनेकी भूल पर टिके हुए हैं।

देहात्मबुद्धिके निदानका क्लेश— एक बड़ा क्लेश होता है भीतर में आशा, प्रतीक्षा, वाञ्छाओंका। इतना मिल जाय, ऐसा हो जाय, इतना जुड़ जाय ऐसी जो भीतरमें एक धारा रहती है उसका बड़ा क्लेश जीवमें रहता है। देखो तो हैं सभी ज्ञानानन्दस्वरूप। दुःखका काम ही नहीं है मगर कल्पनाएं ऐसी बढा रक्खी हैं कि दुखोंके पहाड़ बना लिए हैं। ऐसी वाञ्छाएं इतना हो जाय, ऐसा करलूँ, इसका भी क्लेश है। यह क्लेश भी देहमे आत्मबुद्धि करनेके भ्रम पर टिका हुआ है। क्या कोई अपने आप को ऐसा जान करके कि 'यह मैं आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मा हूं' ऐसा जाने और फिर इच्छा करे कि मेरे दो मकान बन जाएं, मेरी इतनी जागीर बन जाय, क्या ऐसा हो सकता है ? जब देहको मानते हो कि यह मै हू तो वे सारी जरूरतें और सारी इच्छाएं आकर खड़ी होती हैं। इस मुझ ज्ञानस्वरूप अमूर्त चेतन तत्त्वको २ लाख रुपये चाहियें ऐसा भी कोई सोचता है क्या ? अरे उस अमूर्ततत्त्वमें तो धनका स्पर्श भी नहीं होता। वह तो अत्यन्त जुदा है— ऐसा विभाव वहां ही उद्भूत होता है जहां देहको अपना आत्मा समझ रक्खा हो। लो यह मैं हू और ये सब लोग जेन्टिलमैन मेरे निकट जितने हैं उनमें चाहिए मेरी इज्जत। तब फिर आवश्यकता हो गयी वैभवकी, परिग्रहकी।

देहात्मबुद्धिमे वाञ्छाओंका क्लेश— स्वप्नमें कितनी आवश्यकता है ? मोहकी नींदमें जिसे विकल्प हो रहे हों उसको कितनी आवश्यकता है। किसीसे भी पूछो कि कितना तुम्हारे पास हो जाय फिर तो संतुष्ट रहोगे ? हां हां पहिले तो कह देंगे कि इतने हो जायें तो संतुष्ट हो जायेंगे पर उतने हो जाने पर भी संतोष नहीं हो सकता। अभी और चाहियें। तो वाञ्छावोंके भी क्लेश देहमें आत्मबुद्धि किए जाने पर टिके हुए हैं। जितने भी क्लेश संसारके समझे जाते हो सबमें ऐसा ही निर्णय है कि इन सबका परम्परया या साक्षात् कारण यह है कि देहमे आत्मबुद्धि कर रक्खी है।

मनःसंयम— भैया ! अब फिर क्या करना ? जैसे एक समस्या आए कि इस पहाड़ पर घूमना है, इन दो आदमियोंको इनमें से एक ने तो सोचा कि इस पहाड़ पर कंकड़ काटे बहुत हैं, पहिले इस पर चमड़ा बिछा दिया जाय फिर इस पर खूब घूमें। एक ने यह सोचा कि अच्छी मजबूत पनहियां

बनवा लें फिर खूब पहाड़ पर घूमें। तो यह बात बतावो कि इन दोनोंमें से सफल कौन होगा ? पनहियां पहिनने वाला ही सफल होगा क्योंकि पहाड़ पर बिछाने के लिए इतना चमड़ा कहांसे आयेगा और फिर बिछायेगा कौन ? यों ही कोई सोचे कि आराम तो मनमाने परिग्रहके संचय करनेमें है, सो पहिले खूब परिग्रहका संचय करलें फिर रही सही जिन्दगी सुखसे बितायेंगे। एकने यह सोचा कि अपने मनको कन्ट्रोलमें रक्खें, अनायास जो मिला है वह भी तो आखिर छूटेगा, तो इस ही जीवनमें संतोप सहित जो कुछ है उसे ही अपनी जरूरतसे अधिक मानकर गुजारा करलें और मुख्य ध्येय धर्मपालनका रक्खें जिसके लिए हम जी रहे हैं ? तो यह बतायो सुखी कौन हो सकेगा ? जो अपने मनको संयत कर सकता है और मिले हुए को ही अधिक माने, अधिककी वाञ्छा करना तो दूर रहा, ऐसे पुरुष ही संतोप पा सकते हैं, सुखी हो सकते हैं। बाह्य परिग्रहोंका संचय करके कोई सुख पाना चाहे तो वह नहीं पा सकता है। तब क्या करना ? अपने आत्मतत्त्वमें प्रवेश हो जायें, तो सारे क्लेश दूर हो जायेंगे।

मूर्च्छामें विडम्बना—एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। स्मश्रुनवनीत नामक एक पुरुप था। श्रावकों के यहां छाछ पीने गया। तो छाछ पीनेके बाद मूंछ पर हाथ फेरा तो उसके हाथमें घी लग गया। सोचा अरे और रोजगार करना व्यर्थ है। एक ही बार मूछमें हाथ फेरने से इतना घी आया तो सालभरमें तो तमाम जुड़ जायेगा और फिर उसे बेचकर कमायी करेंगे। सो वह वैसा ही करने लगा। रोज चार बार छाछ पीने जाये और मक्खन जोड़ता जाय, दो तीन सालमें ५—६ सेर घी जोड़ लिया। अब जाड़े के दिन थे, फूंसकी झोंपड़ी थी। आगसे वह ताप रहा था। झोंपड़ीमें ऊपर सिकहरेमें घी टँगा हुआ था, उसके मनसूबे बंधने लगे। अब तो कल चारसेर घी बेचने जायेंगे। १०, २० रुपये मिल जायेंगे। उससे बकरी खरीदेंगे, फिर भैंस खरीदेंगे, फिर जमीदारी खरीदेंगे, घर बनवायेंगे, विवाह हो जायेगा, बच्चे हो जायेंगे, खुश होता आ रहा है, कल्पनाएं चढ़ती जा रही हैं पतंगकी तरह। शेखचिल्लीपनमें ही सोच रहा है यह शेखचिल्ली—एक बालक आयेगा कहेगा दद्दा खाने चलो मां ने बुलाया है। शायद ही कोई दद्दा अपने आप रसोई घरमें अपने आप पहुंच जाये। जब तक कोई लड़का या लड़की उसे टेरने न आये नहीं जाते, ठीक है दद्दा बननेका कुछ शौक तो होना चाहिये। जो कुछ हो उसकी कल्पनाएं चल रही हैं। तो वह कहता है कि अभी नहीं जायेंगे। दूसरी बार बालक बुलाने

आयेगा, दद्दा ओटी खाने चलो। बोला अभी नहीं जायेंगे। तीसरी बार बालक रोटी खानेको कहेगा तो वह लात फटकार कर कहता कि अबे कह दिया कि अभी नहीं जायेंगे। लो उसकी लात घी के उबलेमे पड़ गयी, नीचे आग थी सो आगमे घी के पड़नेसे झोंपड़ीमे आग लग गयी। वह बाहर निकल आया और पुकारने लगा, दौड़ो रे भाई मेरा मकान जल गया, मेरे बाल बच्चे जल गए, मेरे जानवर जल गये, मेरी सारी जायदाद खत्म हो गयी। लोगों ने सोचा कि कल तक तो यह भीख मांगता था आज कहता कि हमारा मकान जल गया, हमारे बाल बच्चे जल गए, हमारी जायदाद नष्ट हो गयी। समझाने वाले आए। किसीने कहा अरे वह ख्याल ही ख्याल तो था कुछ भी तो नहीं नष्ट हुआ तो एक पंडित जी उस समझाने वाले से बोले कि अरे सेठ जी ऐसा ही तो तुम करते हो। है तुम्हारा कहीं कुछ नहीं, केवल मानते हो कि अमुक हमारा, अमुक हमारा।

क्लेशकारी पक्षपात— यह मोही प्राणी कल्पित घरके दो चार जीवोंके लिए तो जान तक भी देने को हाजिर है और कल्पित गैर पुरुषो के लिए इसके चित्तमे दो आनेकी भी वकत नहीं है। इतना व्यामोह प्राणियोंमें पड़ा हुआ है। देहमें आत्मबुद्धि होने से ये संसारके सारे संकट इस जीवको भोगने पड़ते हैं। देहमें आत्मबुद्धि मिट जाय, यह मै ज्ञानमात्र हूं, निर्लेप हूं, भावात्मक हूं, चैतन्यतत्त्व हूं, जरा दृढ़ भावना बन जाय और कुछ न सुहाय, कुछ भी हो बाहरमे, उससे मन चलित न हो जाय। इतना आत्मतत्त्वका स्पर्श करने वाला कोई पुरुष हो तो फिर उसके ससारके कष्ट नहीं रहते। जो प्रशंसा करे, जो बढावा दे, जो रागभरी बातें करे, कष्टके कारण तो वे ही बन रहे हैं और यह मानता है कि मै सुखी हूं।

शाबासीका चक्कर— कोई घोड़ा अच्छा हृष्ट पुष्ट हो तो मालिक उसकी पीठ पर हाथ फेरता है, शाबास बेटा, तुम हृष्टपुष्ट हो, सब कुछ कहता हो, पर यह सब प्रशंसा किस लिए कही जाती है ? इसलिए कि चढ़ने लायक वह घोड़ा है सो चढकर सैर करता है, काम निकालता है, तुरंगमें जोतता है, ऐसे ही घरके किसी प्रमुखको सब लोग बढ़ावा देते हैं मेरा यह बहुत अच्छा है, सबका बड़ा ख्याल करता है, खुदको तकलीफ हो जाय, पर किसी बच्चेको रंजमे नहीं देख सकता है, बहुत सुधरी आदत है, बड़ा उदार है। तो ये सब शाबासियां किसलिए हैं ? क्योंकि सबको उसी पर चढ़कर आनन्द लेना है। बस यही रीति इस संसारमें चल रही है।

हितसम्बोधन— अरे जरा परमार्थदृष्टि करके निहारो तो इस मुझ

आत्मतत्त्वका कोई दूसरा हित नहीं कर सकता है। मेरा ही आत्मा निर्मल हो तो हित है। एक ही शिक्षा है कि सुख चाहते हो तो सर्व प्रथम देहमें आत्मबुद्धिका त्याग करके अपने इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें प्रवेश करो और इसे निज आत्मा जानो तो सब क्लेश शीघ्र ही दूर हो सकते हैं।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

स्वच्युति और विषयपतनके क्रमव्यपदेशका कारण— यह मैं अपने आपके आत्मतत्त्वसे गिरकर इन्द्रियके द्वारोंसे विषयोंमें गिर गया और उन विषयोंको पाकर इस मुझका यह मैं हू, इस मुझका यह मै हू इस प्रकार अपने आपको अब तक नहीं जान पाया। अपने स्वरूपसे चिगना और विषयोंमें लगना ये दोनों कार्य एक साथ चल रहे हैं। फिर भी चिगनेका नाम पहिले लिया है और विषयोंमें गिरनेका नाम बादमें कहा गया है। इसका कारण यह है कि यह मैं तो मैं स्वय ही हूं। सो यहांसे चिगा और बाहरमें लगा, इस प्रकार इसमें क्रम बनाया गया है।

दृष्टान्तपूर्वक स्वच्युति व विषयपतनके क्रमव्यपदेशका विवरण— जैसे घरमें से निकलना और बाहर जाना— ये दोनों बातें एक ही हुई ना। घरमें से निकलकर बाहर गया ऐसा कहने वाले बोलते हैं ना। तो इसमें घरमें से निकलना पहिले हुआ कि बाहर जाना पहिले हुआ, इसका पहिले निर्णय करो। ये दोनों ही बातें एक साथ हैं। देहरीके बाहर पैर रखनेका ही नाम तो देहरी निकलना है, और देहरी परसे निकलने का ही नाम बाहर जाना है। पर किसीको ऐसा बोलते हुए न देखा होगा कि अमुक पुरुष बाहर जाकर देहरी से निकल गया। लोग यों ही कहेंगे कि देहरीसे निकल कर बाहर भाग गया। ऐसी ही बात यहां समझो। यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर—विषयोंमें गिर गया और विषयोंमें लगना और अपने स्वरूपसे चिगना ये दोनों एक साथ ही तो चल रहे हैं। फिर भी जैसे अभी दृष्टान्तमें कहा उस ही तरह यहां आचार्यदेव कह रहे हैं कि यह मैं अपने स्वरूपसे चिगकर इन्द्रिय द्वारोंसे विषयोंमें गिरा।

स्वच्युति व विषयपतनकी परिभाषा— आत्मा स्वयं है ज्ञानानन्दमात्र। ज्ञानानन्द स्वरूपमें अपने आपका सम्वेदन करना तो है आत्मस्वरूपमें लगना और ज्ञानानंदस्वरूप अपनेको न मान सकना इस ही का नाम हुआ स्वरूपसे चिगना। और विषयोंमे लगना इसका अर्थ है कि पंचेन्द्रियके उपभोगके साधनभूत बाह्य आश्रयभूत स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द हैं इनको उपयोगमें लगाना, उपयोगका विषय इन्हें बनाकर इष्ट अनिष्ट

कल्पनाएं करना, इसका नाम है विषयोंमें गिरना।

खुदकी ठगाई— भैया! विषयोंमें गिरना एक महान् संकट है। कहां तो यह आत्मदेव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी है, प्रभुता की मूर्ति, प्रभुताका स्वरूप और कहां असार इन्द्रियोंके विषयोंमें उपयोगको फंसाना, कितना बड़ा संकट है इस जीव पर? पर मोहमें विषयों को भोगकर यह जीव मानता है कि मैंने बड़ी चतुराईका काम कर लिया। स्पर्शन इन्द्रियका विषय है कामवासनाकी पूर्ति करना। सो यह जीव इस कामवासनामें लगकर और किसी तरह अपने को समझा कि हम बहुत अच्छे ढंगसे सफल हुए हैं और चतुराई मानते हैं। पर चतुराई कहां है? वह तो संसार में भटकनेका उपाय है। जैसे कोई पुरुष किसी को दगा देकर छल करके अपना कोई काम बना लेता है तो वह मानता है कि मैंने बहुत चतुराई खेल ली अमुककी आंखोंमें धूल झोंककर मैंने अपना अमुक कार्य बनाया। अरे तुमने दूसरोंकी आंखोंमें धूल नहीं झोंकी अपनी ही आंखोंमें धूल भर ली। अरे इतना बड़ा विकट संसार है, इसमें और आगे नहीं जाना है क्या? भव धारण करके रुलेगा यह दगाबाज यह मायावी पुरुष, इसका वह ध्यान नहीं करता है। जानता है कि मैंने दूसरोंको चकमा दिया, पर यह चकमा खा गया खुद।

ठगनेकी अपेक्षा ठगा जाना भला— एक बार गुरु जी (बड़े वर्णी जी) की शिकायत बाई जी (श्री चिरोंजा बाई जी) से उनके एक मित्रने कर दी कि बाई जी ये पंडित जी तो चाहे जिस दुकानसे ठग आते हैं। जिस ग्राहक ने जिस भाव जो कह दिया उसी भाव सामान ले आते हैं, उससे दाम कभी नहीं ठहराते हैं और रोज-रोज ठग आते हैं। तो बाई जी बोली कि भाई हमारा भैया ठगा जाता है पर दूसरोंको ठगता तो नहीं है। यदि यह दूसरोंको ठगे तो इसे अपराधी मानें। ठग गया कुछ हर्ज नहीं। पैसे ही तो गांठसे गये, परिणामोंमें मलिनता तो नहीं आयी, किन्तु ठगने वाला तो अपने परिणाम मलिन करता है, और न जाने संसारके कितने संकट अपने सिर पर बांध लेता है? इस संसारमें गर्व करनेका स्थान नहीं है। यहां अपनी संभाल बहुत अधिक रखनेकी आवश्यकता है।

स्पर्श और रसके विषयसेवनका संकट— विषयोंकी प्रीति इस जीव के लिए महान संकट है। स्पर्शन इन्द्रियके विषयकी बात तो और इससे होने वाली हानियां तो सबके अनुभवमें है। इतनी गंदी बातका क्या विस्तार करें, पर रसनाइन्द्रिय की भी बात देखो क्या हो गया? यदि आध सेकेण्ड जब तक जीभ पर स्वादिष्ट भोजन है रस ले लिया, भोग

समझ लिया तो उससे क्या लाभ लूटा ? कितने ही कर्म बंध गए, आत्मस्वरूपको भूले रहे और घाटी नीचे माटी बन गया। साधारण भोजन करते हुए आदमीके सुधि रह सकती है और रसीले भोजन जो आसक्तिके प्रायः कारण होते हैं। उन रसीले चटपटे भोजनोंके प्रसंगमें आत्माकी सुधि करना बहुत कठिन बात है।

गन्धविषयसेवनका संकट— ऐसी ही बात इस बेकार नाककी समझ लीजिए। गंध सूँघ लिया तो क्या लाभ लूट लिया ? कोटके कालर पर सेन्ट, कानकी गुड़ेरीके बीचमें फोवा, खुशबूदार कार्ड जेबमें रखना और कोई छोटीसी इत्रकी शीशीदान बनाए रहना, सामने इत्र भरने का बर्तन जिसके चार-छे हल्की-हल्की कटोरी रहें, और और सामान रहे तो इन सबसे कौनसा अभ्युदय लूट लिया, जिससे अपने स्वरूपका विस्मरण किया ?

रूपविषयसेवनका संकट— चक्षुरिन्द्रियसे मानों किसीका रूप देख लिया तो उससे क्या लाभ पाया ? अरे हाड़ मांस पसीना लोहू इनका लोथड़ा ही तो है। और थोड़ा रूप भेद हो गया, काला हुआ, सांवला हुआ, पीला हुआ, सफेद हुआ, धरा वहां क्या है ? मिलता क्या है ? लेकिन रूपदर्शनका लोभी यह पुरुष अथवा कोई अचेतन पदार्थ बड़े चमकदार सुहावने बन गए उनका लोभी पुरुष कौनसा अभ्युदय पा लेता है, अपना समय गँवाता है, मन खोटा करता है, कर्म बँधता है। एक निर्णय रखना कि मुझे किसी अन्य पदार्थसे कुछ प्रयोजन नहीं है, मेरा तो मेरेमें निवास करनेका काम पड़ा हुआ है। अरे इस निर्णयके कारण अपने सत में विहार करता तो कुछ इसे लाभ मिलता।

कर्णविषयका संकट व विषयपतनमें निजका अज्ञान- भैया ! खो दिया जीवनको इसने विषयोंके यत्नमें। मिला क्या ? शल्य आकुलता, चिंता, श्रम, विडम्बनाएँ, ऐसी ही कर्ण इन्द्रियके विषयोंकी बात है। सुन लिया राग भरा शब्द, सुरीला शब्द और रागको प्रज्वलित कर दिया तो उससे लाभ क्या पाया ? यह जीव अपने आपके स्वरूपसे चिगकर विषयों मे पतित हो जाता है और उन विषयोंको पा करके यह ऐसी भूलमे हो जाता कि इसने अपने आपको जाना ही नहीं कि मैं क्या हूं ? ये इन्द्रियां ज्ञान करानेका साधन हैं, विषयोंमें पतित करनेका साधन नहीं हैं। पर इन्द्रिय द्वारोंसे ज्ञान होने के साथ-साथ जो रागद्वेषकी वृत्ति लगी हुई है, इष्ट बुद्धि बनी हुई हैं उसकी प्रेरणासे यह जीव विषयोंमें पतित हो जाता है।

कर्ण व नेत्रका सदुपयोग— भैया ! वे ही इन्द्रियां हैं, उनका ही

उपयोग यथासम्भव अपने लिए भी किया जा सकता है। कान भी यों ही हैं। वैराग्यसे भरे-हुए भजनको किसी सुरीले स्वर वाले के मुखसे सुन लिया और अपने आपमें उसका भाव भरा जाय तो लो कानोंका सदुपयोग हो गया। इस ही प्रकार जब तक यह चक्षुरिन्द्रिय चल रही है तब तक स्वाध्यायमें अधिक उपयोग दें। कदाचित् आगे वृद्धावस्थामें जब कि दिखना ही बंद हो जायेगा फिर क्या करेंगे? अरे जब तक आंखें काम कर रही हैं खूब स्वाध्याय करें, देव दर्शन करें, सत्संग करें, इन आंखोंसे धर्म मूर्तियोंके दर्शन करें, धर्मात्माजनोंके साथ रहें, अधिकसे अधिक धर्मात्माजन हम आपकी नजरके सामने रह जायें ऐसा उद्योग करें। मोही जीव अज्ञानी जीव ही दिखते रहनेसे आत्माके आशयमें भी अन्तर पड़ जाता है। जब तक यह नेत्रइन्द्रिय काम कर रही है अधिक से अधिक धर्मके साधन, धर्मकी मूर्तियां, धर्मात्माजनोंके दर्शनमें समय बीते।

बेचारी बेकार नाकका सदुपयोग— नाक बेचारी बेकारसी है। इसका सदुपयोग क्या बताएँ? हां इतना ही बहुत है कि ठीक-ठीक प्रकार से वायुका आना जाना रहे और उसका सदुपयोग क्या कहें? यह नाक हमें तो बहुत बेकार सी लगती है। फायदा कुछ न पहुंचाए और जीवनको बरबाद कराने वाली यह नाक ही है। नाकके पीछे लड़ाई झगडे हों, नाक के पीछे जायदात खत्म करदें। कितनी बरबादीका कारण है यह नाक? हां सदुपयोग इसका यही है कि वायुका आना जाना ठीक प्रकारसे रहे, धर्मात्माजनोंके वातावरणको साधती हुई रहे।

जिह्वाका सदुपयोग— रसना इन्द्रिय पायी तो इसके काम दो होते हैं—एक तो रसका स्वाद लेना और एक वचन बोल लेना। वचन बोले तो कल्याणकारी वचन बोले, आत्महितसाधक वचन बोले, बडे विवेकके वचन बोले। वचन बोलनेसे ही फँसाव हो जाता और वचन बोलने से ही बचाव हो जाता। वचनोंसे ही उलझन है, वचनोंसे ही सुलझन है। बडे विचारसे बोलो। अनेक पर्यायें हुईं, मनुष्यभवको छोड़कर उन अनेक तिर्यंच पर्यायों मे वचन बोलने की योग्यता नहीं मिली। गाय भैंस बांय बाय, मेढक टर्र टर्र यों ही चिल्लाते हैं। वाणी मिली है मनुष्य तो कितनी ही कलावोंसे बोल सकता है। तो इस वाणीका बहुत विचार-विचार कर ठीक-ठीक सदुपयोग करो। कम बोलना चाहिए। बोलना उससे चाहिए जिससे बोलनेमें अपना हित होता हो। गृहस्थोंकी अपेक्षासे आजीविका मिलती हो अथवा जीवोद्धारकी बात मिलती हो। व्यर्थके वचन बोलना यह अपने आपको निर्बल बना देनेका साधन है और शल्य चिंताएँ बना देनेका साधन है।

जिह्वाके दुरुपयोगसे दूर रहनेकी सावधानी— भैया ! मुखसे निकले हुए वचन वापिस नहीं होते हैं। जो वचन निकल गए सो तीरके माफिक निकलेंगे। और जिसका लक्ष्य करके निकले उसमें जाकर उन्होंने प्रहार किया। अब वापिस नहीं हो सकते। किसी को खोटा बोलकर या राग भरा वचन बोलकर फिर सोचे कि मेरा यह वचन वापिस हो जाय तो वापिस हो नहीं सकता है। जैसे धनुष खींचकर छोड़ा गया तीर वापिस नहीं आता है इसी तरह इस मुखरूप धनुषको खींचकर वचनरूपी तीर जो फेंका तो अब वह वापिस नहीं किया जा सकता। कोई कठोर वचन जब बोलता है तो उसका मुख धनुषके आकारका हो जाता है। ये दोनों ओंठ ऐसे पसर जाते हैं कि खींचे हुए धनुषका फोटो ले लो या उस मुखकी फोटो ले लो, एक आकार मिलेगा। और उस धनुषमें से जैसे तीर बिल्कुल सीधा जाकर आक्रमण करता है, ऐसे ही ये वचन निकलकर बिल्कुल सीधा प्रहार करते हैं। इस रसना इन्द्रियका, इस जिह्वाका यह सदुपयोग है कि प्रभुका गुण गान करें और आत्महितके वचन व्यवहार करें, यह इन वचनोंका सदुपयोग है।

स्पर्शनका सदुपयोग— इस स्पर्शनका, शरीरका सदुपयोग यह है कि धर्मात्माजनोंकी सेवा, दीन दुखियोंकी सेवा, दूसरोंकी आपत्ति को दूर करनेका यत्न—ये सब इस शरीरके सदुपयोग हैं। सो इन इन्द्रियद्वारोंसे भला भी काम किया जा सकता है और बुरा भी काम किया जा सकता है। यह मोही जीव रागमोहके वशमें होकर इन इन्द्रियद्वारोंसे बुरा ही काम करता है। विषयोंमे गिरता है। यहा यह ज्ञानी खेद जाहिर करता है कि हाय इन्हीं सर्वविषयोंको पाकर मैंने आत्माको नहीं जाना।

बीते समयकी वापिसी की असंभवता— सारी जवानी विषयभोगों में निकाल दी जाय और जवानी ढलने पर फिर कोई प्रार्थना करे कि मेरा वह समय वापिस हो जाय, मेरे किए हुए उद्दण्डताके काम न किए की तरह हो जायें तो क्या यह हो सकता है ? ऐसा नहीं हो सकता है। जो बीता जैसा बीता वह बीत गया। सो जो गया, जो बीता वह तो बीता, अब भी रहा सहा संभाल लिया जाय, भविष्यका जीवन सुधार लिया जाय तो अब भी बहुत लाभकी बात है। ज्ञानीपुरुष ही अपने अपराधको जान सकते हैं। अज्ञानी तो अपराध भी नहीं जानता कि मैंने क्या अपराध किया ? उसे कितना ही समझावो उसकी समझमें आ ही नहीं सकता है। जब तक अज्ञान अवस्था है कि हां मुझसे यह अपराध हुआ है।

ज्ञानद्वारा अपराधका ज्ञान— ज्ञान होने पर ही यह चिंतन हो पाता

है कि मैं अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी भावना प्रतीतिसे चिगकर, स्वरूप की प्रतीति न रखकर पंचेन्द्रियके विषयोंमें पतित रहा, गिर गया, और यही कारण अनादि कालसे बना चला आ रहा है। जिस भवमें गया उस भवके अनुकूल विषयोंमें रत बना रहा। इन विषयोंको पाकर इसने आज तक भी अपने को कभी भी जान नहीं पाया। भैया! अब देखलो अन्यके मोहमे लाभ मिलेगा या आत्मस्वरूपकी संभालमें लाभ मिलेगा। बात सुनने की नहीं है किन्तु भीतर ही भीतर साहस बनाने की बात है। कौन रोकता है? घर कुटुम्बके लोग चिल्लाते रहें और तुम हां हां भरते रहो और भीतर ज्ञानस्वरूपकी भावना बनावो तो उसमे कोई छेड़छाड़ नहीं कर सकता है, कोई रोक नहीं सकता है। कर्तव्य यह है कि हम अपने आपमें अपनेमे ही गुप्त रहकर इस गुप्त तत्त्वको गुप्त पद्धतिसे गुप्त लाभके लिए करते रहें, इसमे किसीकी रुकावट नहीं हो सकती।

अपराधपरिचयका फल— अपराधके चिंतनका फल तो यह है कि अब अपराध न हो। कोई अपराध किये जाय और अपराधका चिंतन भी करता जाय, आलोचना भी करता जाय तो वह कोई फायदेमय चिंतन नहीं है। कुछ तो फरक आए। अब यह ज्ञानी जीव विषयोसे हटने पर और अपने स्वरूपमें लगने पर तुल गया है। उसका दृढ सकल्प है कि जो भूल हुई है सो हुई, पर अब यह भूल न की जायेगी। इस तरह अपने अभीष्ट प्रयोजनके लिए ज्ञानी पुरातन अपराधका विचार करता है।

एव त्यक्त्वा वहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीप परमात्मनः ॥१७॥

समाधिसाधनाके लिये प्राथमिक प्रयोग— अपने आपके स्वरूपमें वसे हुए परमात्मतत्त्वका प्रकाश करने वाले उपाय क्या हैं, इस सम्बन्धमे इस श्लोकमें प्राथमिक उपाय बता रहे हैं कि जैसे कि आगे कहा जायेगा उस पद्धतिसे प्रथम तो यह चाहिए कि बाह्य वचनालापका परित्याग करे जो भारी बोलते हैं ऐसे बकवाद करने वाले पुरुषोंके परमात्मतत्त्वका प्रकाश होना कठिन है। इससे सर्वप्रथम तो यह उपाय करना ही होगा कि बाह्य वचनालाप को बंद करदें। बाह्य वचनालाप भी दो प्रकारके हैं। एक तो जिनमें ममता है ऐसे पुत्र मित्र स्त्री आदिक परिजनोंसे प्रेमालाप अथवा अन्य वचनालाप करना, यह तो बहुत ही बाधक है। ये वचनालाप रागद्वेष मोहके वर्द्धक हैं, ज्ञान वैराग्यकी याद दिलाने वाले नहीं है। दूसरे प्रकारका वचनालाप है गुरुवोंसे, सधर्मियोंसे, सज्जनोंसे वार्तालाप करना। धर्म प्रगति के लिए धर्मविषयक बात करना यह भी वचनालाप है। यद्यपि यह

धर्मीवार्तालाप आत्महितकी वार्तासे भरा हुआ है, फिर भी परमात्मतत्त्वके प्रकाशमें बाधक है। इस कारण सर्वप्रकारसे बाह्य वचनालापका सर्वप्रथम परित्याग करें।

प्रभुदर्शनका स्थान— यह परमात्मतत्त्व बाहर किसी क्षेत्रमें न दीखेगा, जैसे कि लोग अक्सर प्रभुदर्शनकी उत्कंठामें आसमान को तकते हैं अथवा यहां वहा ढूँढते हैं, मन्दिरमें, मस्जिदमें, मूर्तियोंमे, कंकरोंमें ढूँढते हैं तो इस तरह अन्यत्र खोजनेमें परमात्मतत्त्वका दर्शन न होगा। परमात्म तत्त्वका दर्शन अपने आपके अंतःस्वरूपमें समाये, इस वृत्ति द्वारा होगा। व्यवहारमें, मन्दिरोंमे, मूर्तियोंमे जो दर्शन करते हैं, उनका प्रयोजन मूर्ति को पूजना नहीं है। क्या कभी किसी ने ऐसा स्तवन करते हुए सुना कि देखो जी तुम जयपुरके अमुक कारीगरके बनाए हुए हो, सफेद पाषाणके हो, तुम स्वर्णवत् रंगके हो, तीन फिट ऊंचे हो, क्या कभी मंदिरमें इस तरहकी स्तुति करते हुए देखा है? जिसे देखा होगा तो यो स्तुति करते देखा होगा। हे प्रभु! तुम वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, शुद्ध स्वरूप हो तो बतलावो यह मूर्तिकी पूजा हुई या भगवान्‌की पूजा हुई? पूजा तो भगवान्‌की हुई पर मूर्तिका आलम्बन लिया है। इसमें भगवान्‌की तदाकार स्थापना है और विधि प्रतिष्ठासे मूर्तिमें प्रभुकी स्थापना की है।

प्रभुका अन्तर्दर्शन— मंदिरोंकी बात तो दूर रही, साक्षात् समवशरण भी हो जहां भगवान् गन्धकुटीमें विराज रहे हों वहा पर भी भगवान् के दर्शन कहीं बाहरमें नहीं होते, किन्तु अपने आपके अंतःस्वरूपमें प्रभुके दर्शन होते हैं। प्रभु आखोंसे दिखने वाला तत्त्व नहीं है। वह बाहरी क्षेत्रमें कैसे दीखेगा? ज्ञानदर्शन प्रभुका स्वरूप है, अपने में ज्ञेयाकार बनाकर जो अन्तरमें स्वरूपका ग्रहण होता है उस वृत्तिसे प्रभुका दर्शन होता है। तो ऐसे गुप्ततत्त्वके दर्शनका क्या वह अधिकारी हो सकता है जो बहिरङ्ग वचनालाप बकवाद बहुत किया करता हो? प्रभुदर्शनके उपायमें सबसे प्रथम यह करना होगा कि बाह्य वचनोंका परित्याग करें।

अन्तर्जल्पका परिहार— बाह्य वचनोंका त्याग करके फिर जो अन्तर्जल्प हैं उनका भी सम्पूर्ण रीतिसे त्याग करें। अन्तर्जल्प क्या है? ओंठ हिलाकर तो बोलें नहीं। चुप हो गए, मौन रख लिया, पर अन्तरमें अभी शब्दानुसारी विकल्प चल रहा है, अथवा विकल्पानुसारी शब्द चल रहे हैं। नहीं बोलते हैं, फिर भी अन्तरमें यह आवाज गूँजती रहती है कि मैं सुखी हू, मैं दुःखी हू, मै भला हू, मै चतुर हूं, मैं पंडित हूं, गुरु हूं, शिष्य हूं, नाना प्रकारके भीतरमें जो विकल्प उठते हैं और शब्दोंको साथ लेते

हुए चलते हैं वे सब विकल्प और शब्द इस जीवके अन्तर्जल्प कहलाते हैं। बाह्य जल्पोंका परित्याग करके फिर अन्तर्जल्पका भी त्याग करें। यह संक्षेपमें परमात्माका प्रकाश करनेके लिए एक योग कहा गया है।

चेतनकर्मका परमें अभाव-- वस्तुतः प्रभुदर्शनकी तो बात ही क्या जितने लौकिक प्रसंग होते हैं, कुटुम्ब प्रेम, पुत्र प्रेम, मित्र प्रेम ये सब भी बाहर नहीं किए जाते हैं। कोई पुरुष स्त्रीसे अथवा पुत्रसे या मित्रसे प्रेम कर नहीं सकता। उसके वशकी बात नहीं है कि वह किसी पुत्र अथवा मित्रादिकसे प्रेम करले। वह भ्रमसे मानता है कि मैंने मित्रजनोंसे प्रेम किया। किन्तु वह प्रेम कर नहीं सकता है। प्रेम करनेकी जो परिणति है वह प्रेम करने वाले आत्माके प्रदेशमें ही परिसमाप्त हो जाती है। प्रदेशसे बाहर वस्तुकी परिणति नहीं होती। प्रेमरूप परिणमन मेरा मेरे से बाहर कहां टिकेगा? निराधार परिणमनको तो आधारभूत द्रव्य चाहिए। द्रव्य तो जितना यह मैं आत्मा हूं उतनेमें ही परिसमाप्त है। बाहर एक सूत भी एक प्रदेश भी प्रेम परिणमन नहीं जाता। फिर ये पुत्र मित्रादिक बहुत दूर बैठे हैं, भिन्न जगह रहते हैं, उनमें कैसे यह मेरा प्रेम परिणमन हो जाय?

शब्दघड़ीमें प्रीतिका अभाव— बात वहां क्या होती है, इस मर्मको जाननेके लिये पहिले यह समझिये कि इस सम्बन्धमें तत्त्व तीन प्रकारके होते हैं—शब्दतत्त्व, ज्ञानतत्त्व और अर्थतत्त्व। कुछ भी चीज हो उसके सम्बन्धमें ये तीन धारायें हैं। जैसे मानो घड़ी नाम लिया। यह घड़ी तीन प्रकारोंसे विदित होगी शब्दघड़ी, अर्थघड़ी और ज्ञानघड़ी। शब्दघड़ी तो वह है जो घ और ड़ी ऐसे दो अक्षर हैं। बतावो इस शब्दघड़ीसे कोई प्रीति करता है? किसी को घड़ी रखनेका बड़ा शौक हो तो कहीं १०-२० जगह घड़ी, घड़ी, घड़ी लिख डालो और फिर कहो कि लो घड़ी जितनी चाहो क्योंकि तुम शब्दघड़ी से बहुत प्रीति करते हो। तो क्या इस शब्द-घड़ी से कोई प्रेम करता है? कोई नहीं करता है।

अर्थघड़ी व ज्ञानघडी प्रीतिके अविषय व विषय— और यह अर्थ-घड़ी है जो गोलमटोल है, जिस पर सूइयां फिरती हैं। तो इस अर्थघड़ी से तो लोग प्रेम किया करते होंगे ना? नहीं नहीं, तुम अपने इस देह प्रमाण हो, और तुम्हारी जो करतूत होगी, परिणमन होगा वह देह प्रमाण वर्तमान आत्मप्रदेशमें ही परिणमन होगा। तो यह आत्माका परिणमन अपने प्रदेश तक ही सीमित रहा, घड़ी तो बहुत दूर रखी है, चार अंगुल दूर है, हाथ भर दूर है, ४ हाथ दूर है, वहां मेरा प्रेम परिणमन कैसे पहुंच जायेगा? अर्थघड़ीमें भी लोगोंका प्रेम नहीं पहुंच सकता। तब इस अर्थ-घड़ीके बाबत जो इतनी कल्पनाएं बनाए हुए हैं, विकल्प जगते हैं, ज्ञान

होता है वह है ज्ञानघड़ी और हम विलमा करते हैं, रमा करते हैं घड़ीके सम्बन्धमें तो इस ज्ञानघडीमें रमा करते हैं।

प्रीतिके विषयका एक अन्य उदाहरण— एक आध और दृष्टान्त लो। आपको अपने नातीसे मानो प्रेम है तो नाती तीन हुए—शब्दनाती, अर्थनाती और ज्ञाननाती। शब्दनाती तो ना और ती ऐसे दो शब्द हैं, आप लोगों को ऐसे कितने नाती चाहिये ? हम १० मिनटके अन्दर ही ऐसे ५०, ६० शब्द नाती तैयार कर देंगे। और आपके पास रख देंगे। केवल दावात स्याही, कलम और कागज चाहिए। ऐसे ५०, ६० नाती अभी तैयार हो जायेंगे। ना और ती ऐसे दो ही अक्षर तो लिखना है। तो क्या आपका शब्दनातीसे प्रेम हो सकता है ? नहीं। तो अर्थनातीसे प्रेम होगा। अर्थनाती क्या है जो दो हाथ दो पैरका है। तुम्हारे घरमें जो रहता है वह है अर्थनाती। पर अर्थनातीसे तुम्हारा प्रेम हो ही नहीं सकता, लाख उपाय कर लो क्योंकि आपका प्रेम, आपका अनुराग आपके प्रदेशोंमें ही परिणम कर समाप्त हो जाता है। प्रदेशसे बाहर प्रेम परिणमन नहीं जाता है। तो वह अर्थनाती तो १० हाथ दूर, ५० हाथ दूर बैठा है, उस पर तुम्हारा प्रेम कैसे पहुंच सकता है ? तब हो क्या रहा है इस व्यामोह अवस्थामें कि अर्थनातीको विषय करके जो आपके ज्ञानमें ज्ञेयाकार परिणमन हो रहा है अर्थात् नातीविषयक ज्ञान चल रहा है उस ज्ञान विकल्पमें आपका प्रेम है। तब आपने नाती कहां देखा ? अपने ही अन्तरमें, बाहरमें नहीं देखा। बाहरमें तो जैसे सब हैं तैसा ही वह है।

भक्तिका विषयभूत भगवान्— भगवानमें भगवान् शब्द तो कोई प्रभुता ही नहीं रखता। लिख दिये चार अक्षर भ ग वा न्। तो उन अक्षरोंमें न वीतरागता है, न सर्वज्ञता है, न चैतन्यस्वरूप है। शब्दभगवान् की तो भक्ति ही कौन करता है, तब क्या अर्थभगवान्की भक्ति लोग करते होंगे ? नहीं। अर्थभगवान् परक्षेत्रमें है, सिद्ध भगवान सिद्धलोकमें हैं। अरहंत भगवान यद्यपि इस कालमें नहीं होते पर जहां भी होते हैं वहां भी लोकसे बहुत दूर विराजमान् होते हैं। परक्षेत्रमें स्थित अर्थ भगवान् तक मेरा कोई परिणमन पहुंच जाय यह असम्भव बात है। आपका परिणमन आपके प्रदेशमें ही रहकर परिसमाप्त हो जाता है। तो अर्थभगवान्की भी भक्ति कोई नहीं कर सकता है। तब वीतराग सर्वज्ञ निरञ्जन शुद्ध जो भगवत् स्वरूप है उस भगवत स्वरूपके सम्बन्धमें जो ज्ञान किया जा रहा है अपने ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन चल रहा है उस परिणमनमें भक्ति होती है। अर्थात् ज्ञानभगवानमें निश्चयसे भक्ति बन पाती है—ऐसा अपने

अन्तरमें ज्ञान द्वारा ज्ञानमें प्रकट होने वाले परमात्मतत्त्वको कोई बकवाद करने वाला मनुष्य देख लेगा, दर्शन कर लेगा, यह बात बिल्कुल विरुद्ध है। इस कारण परमात्मतत्त्वके दर्शन करनेके अभिलाषी पुरुषको सर्वप्रथम कार्य यह करना होगा कि बहिरङ्ग वचनालापका त्याग करें।

अन्तर्जल्पके परिहारकी आवश्यकता— अब इसके बादका कर्तव्य देखिये— बाह्य वचनोंका तो त्याग कर दिया और अतरङ्गमें शब्द ध्वनि उठाये रहे तो उस मौजका पूरा लाभ नहीं उठा पाया। जैसे कोई आहारका तो परित्याग कर दे और भीतरमें वाञ्छाएँ बनाए रहे कि अच्छी आफतमें पड़ गए। सभी उपवास करते हैं तो हमें भी करना पड़ता है, तो उपवासका कोई फल नहीं रहा। जिस रोज तीजका दिन आयेगा उस दिन छोटी-छोटी बच्चियां उपवास करेंगी। करती हैं यहा कि नहीं? तो उन बच्चियोंका उपवास क्या? तेज भूख लगे तो कहो रोने लगे और मां खाने को दे दे। तो खा लें या न खा लें, पर उनका उपवास क्या? तो जिसके अन्तरमें वासना नहीं रहे उसका अनशन सफल होता है। इसी प्रकार बाह्य वचनालापका तो परित्याग करदें और अंतरङ्गमें वचन उठते रहें, चलते रहें तो परमात्मा तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। परमात्मतत्त्वके दर्शनके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग वचनालापोंका परित्याग करें।

आत्म ऐश्वर्यदर्शनविधिकी एकरूपता— भैया! यह संक्षेपसे समाधि का योग बताया जा रहा है। किसको? जो आत्मतत्त्वकी साधनाके रुचिया हैं, केवल आत्मसाधनारूप एक ही उद्देश्य जीवनका है। इस प्रयोगको गृहस्थजन भी अपनी शक्ति माफिक अमलमें लायेंगे तो धर्मकी तो पद्धति एक ही है—वे भी परमात्मतत्त्वके दर्शन कर सकते हैं। यहां ऐसी द्विविधा नहीं है कि गृहस्थोंका प्रभुदर्शनका तरीका और है, और साधु संतोंका प्रभुदर्शनका तरीका और है। ऐसी दो पद्धतियाँ नहीं हैं। भले ही समयभेद स्थिरताभेदका अन्तर हो जाय, पर जिस पद्धतिसे साधुको ऐश्वर्यके दर्शन होते हैं उस ही पद्धतिसे गृहस्थको आत्मऐश्वर्यके दर्शन होते हैं।

सुख दुःख पानेकी पद्धतिकी एकता— भैया! प्रभुदर्शनकी ही बात क्या, सुख और दुःखके पानेकी भी पद्धति एक है। सांसारिक सुख, सांसारिक दुःख अथवा आनन्द—इन तीनोंकी पद्धति भी एक है, अन्तर नहीं है कि गृहस्थको परिवारमें राग करके आनन्द मिला और साधुको तपस्या करके देह सुखानेमें आनन्द मिला। आनन्द कहते हैं वीतराग ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्वके सहज दर्शनसे होने वाली जो सहज अनाकुलता है

पसे। आनन्द तो इस ही पद्धतिसे मिलता है। जितने रूपमें गृहस्थ कर सके वह पाले, जितने रूपमें साधु कर सके तो वह पा ले। जैसे अपने बछड़ोंसे प्रेम करने वाली गायोंके अपवात्सल्यका तरीका एक ही है। पूंछ उठाना और हिलाना। जिस गायकी पूंछ कटी हो वह अपनी कटी पूंछ हिलाती हुई अपने बच्चेके पास दौड़ी आती है और जिसकी पूंछ लम्बी है वह अपनी लम्बी पूंछ हिलाती हुई दौड़ी आती है, पर वात्सल्य का तरीका तो सब गायोंमें एक प्रकारसे है। लौकिक सुख पानेकी पद्धति भी एक ही तरहकी है। तो प्रभुदर्शनकी पद्धति भी गृहस्थ हो या साधु हो एक ही प्रकारसे होती है।

अन्तर्जल्पविलयकी विधि— उस आत्माकी सिद्धिके लिये सर्वप्रथम तो बाह्यवचनालापोंका परित्याग करना चाहिए और सर्व प्रकारसे अतरङ्ग वचनालापोंका त्याग करना चाहिए। किस विधिसे अतरङ्गके शब्द भी छूट सकते हैं? वह विधि भी है केवल एक प्रकारकी। अपने आप अतःप्रकाशमान् अनादि अनन्त अहेतुक अबाधित शाश्वत जो सहज भाव है, चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव है उसके ज्ञानमें ज्ञानको लगालें तो जब वह ज्ञान इस ज्ञानस्वभावके ही जाननमें लग जाता है उस कालमें सहज अनाकुलता प्रकट होती है और उस अनाकुलताके अनुभवके समयमें इस जीव को प्रभुताके दर्शन हो सकते हैं, ऐश्वर्यकी उपलब्धि होती है। जहां यह समझमें आ गया कि अपने स्वरूपका आलम्बन ही सत्य शरण है और अपनेसे भिन्न परपदार्थोंकी दृष्टि बनाना यह सब धोखे से भरा हुआ है, दुःखोंका उपाय है।

परात्मप्रकाशक योग— यह आत्मतत्त्व समझमें कब बैठता है ठीक ठिकानेसे जब अपने सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव हो। प्रभुके दर्शन करने का उपाय साक्षात् तो आत्मानुभव है। और ज्ञानानुभवकी साधनामें प्राथमिक उपाय ये दो बताये गए हैं कि पहिले तो बाह्यजल्पोंका परित्याग करें, बकवाद न करें, मौन हो जावें, कुछ बोलें नहीं, और फिर इसके पश्चात् अन्तरङ्गमें ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे भीतर ही भीतर जो गुनगुनाहट उठती है, शब्द चलते हैं वह अन्तर्जल्प भी छूट जाय, तो ऐसी स्थितिमें अवसर मिलता है कि वहां केवल ज्ञानप्रकाश ही उपयोगमें रहे। ऐसी स्थिति हो परमात्माके प्रकाश करने वाली है और इसही को आचार्यदेवने योगसाधना कहकर कहा है कि यह परमात्माके मिलनेका एक उपाय संक्षेप में बताया है।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ।।१८।।

शीतल आत्मगृह— संसारके आतापसे तपे हुए प्राणी को शीतलता संतोष देने वाला यदि कोई अमोघ उपाय है तो वह हैं गुरुवोका वचन। इस ग्रन्थमे गुरु पूज्यपाद स्वामीने ऐसा हितरूप उपदेश किया है कि उस उपदेशमें चित्त जाय तो संसारका संताप भी नहीं रहता। सांसारिक गर्मी या हवा बंद होने आदिके दु ख तो वहां ठहरते ही नहीं हैं। उपयोग वहा ले जानेकी देर है फिर कहीं कोई कष्ट नहीं है। जगत्के अन्य सर्वदेहादिक पदार्थोंसे उपयोगको हटाकर अपने आपका जो यथार्थस्वरूप है उस स्वरूप मे उपयोग करे तो आतापकी बात तो दूर रही, शीतलताका अनुभव होता है। चाहे पौद्गलिक शीतलता न भी हो बाहर, फिर भी अतरङ्गमे शीतलता और संतोष होता है।

बहिरन्तर्जल्पपरिहारविधिकी मूल जिज्ञासा— पूर्व श्लोकमे यह उपदेश किया गया था कि संसारके संकटोसे छूटना हो, मुक्ति पाना हो तो सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि बाह्य वचनालापको त्याग दें और सर्व प्रकारसे अंतरङ्ग वचनालापको भी छोडें। तब प्रश्न यह होना स्वाभाविक है कि आखिर वह उपाय क्या है जिसको हम प्रयोगमें लायें तो हमारे बाह्य वचनालाप छूट जायें ? उसके समाधानमे ही यह श्लोक आया है।

बहिरन्तर्जल्पपरिहारिणी मूलभावना— वचनव्यवहार दिखने पूर्वक हुआ करते हैं। लोग कहते हैं ना, न देखे न भोके। जितने वचनव्यवहार चलते हैं वे दिखाई दे तभी वचन बोले जाते है। चाहे मनसे दिखाई दे, किसी भी प्रकार वह दिखाई दे तो वचनव्यवहार बनता है। उसके द्वारा जो कुछ दिखाया जा रहा है, क्या दिखाया जा रहा है—रूप। वह तो रच भी जाननहार पदार्थ नही है और जो जाननहार पदार्थ है वह मेरे द्वारा देखा नहीं जा रहा है, फिर बतलावो मै किसके साथ बोलूँ ? क्या इस किवाड़से बोलने लगूँ ? नहीं-नही, किवाड़से मत बोलो। तो इस नाक, आंख, कानसे बोलने लगूँ ? जैसे किवाड़रूप पदार्थ है, वह भी जानता नहीं है ऐसे ही हड्डी, मास की जो यह शकल है, शरीर है, यह शरीर भी कुछ जानता नहीं है। अरे तो शरीरसे बोलने के लिए नहीं कह रहे हैं। शरीरके अन्तरमें जो आत्मा है उससे तो बोल लो। क्या शरीरके अन्दर रहने वाला आत्मद्रव्य वह हमें दिखता है ? अगर दिखता हो तो बोल लो। कदाचित् प्रज्ञाबलसे अन्दरका आत्मतत्त्व परिचयमे आ जायेगा तो बोलने की सिट्टी सब भूल जायेगी। वहां तो ज्ञान रसके आनन्दका अनुभव लिया

जायेगा जो कुछ मुझे दिखता है वह जानता नहीं है, जो जानता नहीं उसके बोलनेसे क्या फायदा ? जानने वाले से बोलो तो लाभ है। सो जो जानता है वह दिखता नहीं, जो दिखता है वह जानता नहीं। फिर किससे बोलें ? यह उपाय बताया है कि तुम चुप कैसे रहो ? बकवाद-बोलना बंद हो जाय उसका यह उपाय दिखाया है। लाभ हो बोलनेसे तो बोलो।

धर्मवचनमें आपेक्षिक हितरूपता— कदाचित् यह कहोगे कि धर्म की बात, उपदेश की बात तो बोलने से सुननेसे लाभ है तो भाई यह लाभ आपेक्षिक है सर्वथा लाभ नहीं है। विषय कषाय सम्बंधी वचनों को सुनकर जो हैरानी और परेशानी होती है उन हैरानियोंसे बचने का कारण यह धर्मवचन है। इस धर्मवचन को सुनते हुए भी हम किसी अपेक्षा से तो लाभ में हैं, लेकिन किसी अपेक्षासे हम अभी अपनी पूर्णपरिणतिमें नहीं हैं और फिर यह समाधिके लिए तैयारी बताता है, उसमें आरम्भमें यह यत्न है। जब कभी अपने ही भाईसे अथवा मित्रसे अपने लाभकी कोई उम्मीद नहीं रहती है तो तब लोग समझाते हैं यार एक दफे तो कह लो। अरे किससे बोलें ? वहा कुछ तत्त्व ही नहीं निकलनेका है। तो अब यह बताओ किससे बोलें ?

किससे बोला जाय— लोग बच्चों को खिलाकर सन्तुष्ट होते हैं अपना समय गँवाते हैं, कितने वचन खर्च कर देते हैं। कुटुम्बमें राग भरी बातें कहकर अपने कितने वचन खर्च कर डालते हैं ? यह ध्यानमें नहीं लाते। मैं किससे बोलूं ? कुछ आत्महित हो तो बोलनेका श्रम किया जाय। यह द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे आत्मद्रव्य के स्वरूपको लखकर समाधिभाव के लिए वार्ता की जा रही है। यह शरीर प्रकट अचेतन है और जो खास चेतन-तत्व है, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को लिए हुए है सो शुद्ध चेतन द्रव्यमें तो सुनने की गड़बड़ियां ही नहीं हैं। देखो प्रभु किस प्रकार जानते हैं। उनके तो पाचों ही इन्द्रियां नहीं हैं। देह भी नहीं है। तो वह देह भी चिन्मात्र जैसा है। उन इन्द्रियोंका वहां प्रयोग नहीं होता। तो किस तरह वे जानते हैं ? अपने आपसे। विश्वमें जितने पदार्थ हैं उनके गुण उनकी पर्याय वे सब ज्ञात हो जाते हैं, किन्तु जो स्वतंत्र वाली बात नहीं है, जो स्वयं कुछ द्रव्य नहीं है उसका विकल्प नहीं होता।

प्रभुका शुद्ध जानन— भैया ! अशुद्ध ज्ञेयको हम अशुद्ध बनकर जान सकते हैं। प्रभु शुद्ध हैं और उनके ज्ञानमें शुद्ध ज्ञेय ही आता है। यह दरवाजा ५, ६ फिट लम्बा है, चार साढ़े चार फिट चौड़ा है, यह हम तो जान रहे हैं, क्या भगवान् भी यों जानते हैं कि यह ५—६ फिटका लम्बा

दरवाजा है। यह आपेक्षिक चीज है, अशुद्ध बात है, कल्पनाकी हुई चीज है। प्रभु अपने सर्वप्रदेशोंसे सर्वद्रव्योंको सर्वगुण पर्यायोंको जानता है। ऐसा जाननहार यह चैतन्यद्रव्य है। उसमे तो उसको बोला भी नहीं जा सकता, उसके तो इन्द्रियां भी नहीं है, सुननेकी बात नहीं हो सकती है। कोई भक्त जोरसे चिल्लाकर गाये और ऐसी कल्पना करे कि मै खूब जोरसे बोल लूँ तो भगवान् तक आवाज चली जाय। भगवान् निकट हों तो भी उनकी आत्मामें आवाज नहीं पहुंच सकती। उनका तो शुद्ध ज्ञातृत्वस्वरूप है। सुनना, सूँघना यह तो खण्ड ज्ञान है, अशुद्ध ज्ञान है। ऐसा अशुद्ध ज्ञान प्रभुके नहीं होता। तब फिर हम चुपचाप मनमें बोलते रहें, पढते रहें। पाठ तो क्या वेतारका तार बनकर भगवान्के प्रदेशमें उसकी खबर पहुंच जायेगी? सो वह नहीं पहुंच पाती। फिर अब क्या करना? भगवान् का जो रूप है वह घट-घटमें विराजमान् है, हम आपमे भी है। सो उस भगवान्के उस स्वरूपमें उपयोग दें तो समझ लीजिए कि हमारी बातें भगवान्को स्वीकार हो गयी।

शिक्ष प्रयोग— यह आत्मदेव इन्द्रियो द्वारा अगोचर अपने आपमे ज्ञानानन्दस्वभावरूप है। यही है आत्मतत्त्व। इससे बोल नहीं सकते। यह दिखता नहीं है। जो दिखता है वह जानता नहीं है। फिर किससे बोलें? शुद्ध स्वरूपकी झलक होने पर इसका अर्थ हृदयमें बैठेगा। शुद्ध स्वरूपसे दृष्टि विमुख रखने पर तो ऐसा लगेगा कि क्या व्यर्थकी बात कही जा रही है? पर व्यवहार यह सुनता है, सारी बातें तो सही-सही है और बोलते जा रहे हैं और कहते जा रहे है कि मै किससे बोलूँ? अरे बोलना बंद करनेके लिए ही तो यह बोला जा रहा है। यह तो पाठशाला है; मंदिर या स्वाध्याय गोष्ठी है, चाहे यहां बैठकर पाठ याद करलो— बड़ी अच्छी बात है अथवा घर जाकर, चाहे दुकानमें हो या घरमें हो, कहीं जाकर बैठकर याद कर लो। कौनसा पाठ बता रहे हैं याद करनेको? जो दिखता है वह जानता नहीं, जो जानता है वह दिखता नहीं। फिर मैं किससे बोलूँ? ऐसा यथार्थ, स्व-परका भान होकर ऐसी प्रयोगकी बात आये तो यह पाठ याद हुआ समझिये। तब बोल बद होकर पूर्ण मौनसे रहने पर स्वकीय आत्मस्वरूपमें विश्राम होता है, उसका सहज आनन्द मानने पर पश्चात् झुँझलाहटकी बात, यह बात आप भी बोल सकेंगे। किससे बोलें?

सरसस्वादीको विरसतामे झुँझलाहट— आपको भोजनमे पहिले तो परोस दे बहुत उम्दा स्वादिष्ट मिठाईका भोजन और दूसरी बारमे

परोस दें कोदो सवांके मोटे रोटा तो आप झुंझला कर कहेंगे कि क्या खायें ? अरे धरा तो है खावो, पर स्वादिष्ट भोजन ले चुकने के बाद ये कोदो सवांके रोटा कैसे खाये जा सकते हैं ? क्या खायें ? वचनव्यवहार समाप्त करनेके उपायसे अपने आपके ज्ञानस्वभावके अनुभवमें जो आनन्द जगा है उस आनन्द लेनेके पश्चात् जब कुछ अपनेसे हटकर व्यवहारमें लगता है तो इसमें अलिप्त होता है। क्या स्थिति आ गयी ? वही पुरानी बात। आत्मस्वरूपमें लीनताके क्षण मेरे हों यह स्थिति मुझे चाहिए। किससे बोलें ? यहां तो बड़ा अंधेर लगा है। जैसे सोनेका आनन्द जो बालक ले रहा है, उसे कोई जगाये तो वह बालक एक दो मुक्का मार ही देता है—मुझे क्यों जगाया ? मैं तो बड़े सुखमें था। यों ही ज्ञानी पुरुष अपने आत्मस्वरूपमें अनुपम स्वाधीन सत्य सहज आनन्द पा लेने पर जब यह आनन्द छूटता है, बाहरी पदार्थोंमें विकल्प करना होता है तो ज्ञानीको इस स्थितिपर ऐसी दृष्टि होती है कि कहां अब सिर मारें ? किससे बोलूँ मैं।

ज्ञानकला— भैया ! मोक्षमार्गमें सारा महत्त्व ज्ञानकलाका है। ज्ञान कलाका ही नाम सब देवता है। ज्ञानकलाकी विशेषतावोंके ढाचेमें देवतावों की कल्पना करके शृङ्गार किया गया है। यह भगवती प्रज्ञा यही विजय करती है। भीख मागने वाले लोग कहते हैं कि तुम्हारी भगवती फतेह करे। भगवती हम कहां ढूँढ़ने जायें ? क्या भगवतीकी किसीके साथ भांवरें पड़ी थीं जो उन्हें भगवती कहा। भगवती तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है। भगवान्‌की जो आंतरिक सहज शुद्ध वृत्ति है वही भगवती है। जो भगवान्‌की हो सो भगवती। भगवान् की है परिणति, वही भगवती है। और जैसी वह भगवती है वैसी ही भगवती हम आप सबके अन्तरमें पड़ी है, उसकी दृष्टि हो तो वह फतेह अवश्य करती है। इस ही का नाम है शक्ति। जो लोग उस शक्तिकी उपासना करते हैं वे बाहरमें कहां ढूँढ़ते हैं शक्ति ? अपने आपके अन्तरमें अपने सत्त्वके कारण सहज होने वाले स्वभावको देखो, वही शुद्धशक्ति है। उस पर दृष्टि जगे तो यह शक्ति आत्मा का कल्याण कर सकती है।

ज्ञानकलाके अपरनाम— इस ज्ञानानुभूतिके और भी नाम हैं— जैसे दुर्गा। "दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा" जो बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो सके उसे दुर्गा कहते हैं। देखो तो इस जीवको बाह्य समागम सारे सुगम लग रहे हैं। कठिनाईसे प्राप्त होने वाली बात है तो अपने आपका अंतःप्रकाशमान् जो ज्ञान स्वभाव है, जो छेदने से छिदता नहीं, भेदनेसे भिदता

नहीं, जलाएसे जलता नहीं, बहायेसे बहता नहीं, ऐसे शुद्ध स्वभावकी अनुभूति कठिनाईसे प्राप्त होने वाली बात हो गई। इस ज्ञानानुभूति को ही दुर्गा कहते हैं। इसीके ही सब रूप हैं। जैसे लोकमें प्रसिद्ध है दुर्गा, काली, चंडी, भवानी—सब एक शक्तिके रूप हैं। और सरस्वती भी उस ही एक शक्तिका रूप है। और भिन्न-भिन्न पर्वोंके उद्देश्यके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखी गयी हैं। इसीको सरस्वतीके रूपमें पहिचानो। इतनी शुद्ध शांतमुद्रा सहित ज्ञानकी ही मुद्रा प्रकट हो ऐसा रूप बनाते हैं। और कभी जीभ निकली, अनेक हाथोंमें शस्त्र लिए हुए, मुण्डमाला पहिने हुए एक भयंकर रूप मुद्रामें भी उपासना की जाती है। शक्ति एक है और उसकी भिन्न-भिन्न रूपसे उपासना की जाती है।

ज्ञानकलामें उद्धारकी द्विरूपना—वह शक्ति कौन है? वह है यही चित्स्वभाव, चैतन्य महाप्रभुत्व, ज्ञानानुभूति। इस ज्ञानानुभूति शक्तिको जब हम इसके सहज विकासको निरखते हैं तो इस ज्ञानानुभूतिका वह सरस्वती रूप है और यह ज्ञानानुभूति कर्मकलंकको ध्वस्त करते हुए प्रचंड उदय रूपमें आती है। उस मुद्राको देखते हैं तो इस ज्ञानानुभूतिमें वह कालीरूप दिखता है जिस स्वरूपसे यह सारे कर्मकलंकोंको ध्वस्त करदे। रग-रगके प्रदेशसे शस्त्र निकले हैं। वे राग, द्वेष, मोह, विभाव सारे शत्रु ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसा शक्तिमय यह चैतन्यतत्त्व है। जो जाननहार है वह दिखता नहीं, जो दिखता है वह जानता नहीं। फिर मैं किससे बोलूं? ऐसी भावना करके वचनव्यवहारको छोड़ें और अन्तरङ्गके अन्तर्जल्पको त्यागें और स्वरूपमें प्रवेश करें। यही उपाय है समतापरिणाम करने का।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

पूर्वशिक्षाका स्मरण— पूर्व श्लोकमें यह बात बतायी गयी थी कि कल्याणार्थी पुरुषको चूँकि आत्मध्यानकी प्रमुख आवश्यकता है और उसमें प्रथम ही बाधक वचनव्यवहार है। बहुत बोलना, बकवाद करना हित समाधिके इच्छुक पुरुषके लिए विघ्नरूप है। सो उससे किसी तरह छुटकारा पाना चाहिए। इसका विवरण बनाया है, और एकदम सीधा यह दिया गया था कि देखो जो मुझे दिख रहा है वह तो जानता नहीं और जो जाननहार तत्त्व है चैतन्यस्वरूप, अन्तस्तत्त्व वह दिखता नहीं और वचन व्यवहार जितने होते हैं वे किसीको देखकर ही होते हैं। तब फिर मैं किससे बोलूँ? बाह्यजल्पोंका, वचनालापोंका त्याग करनेका एक सीधा उपाय बताया है।

अन्तर्जल्पपरिहारका एक उपक्रम— अब इस छंदमें यह बतलाते हैं कि बाह्यविकल्पोंका त्याग करके वहां भी बाह्य वचनव्यवहारोंका परिहार हो चुकने पर भी अन्तरङ्गके जल्प उठा करते हैं, शब्द चला करते हैं अथवा कल्पनाएँ चला करती हैं। उस अन्तर्जल्पमें विकल्पोंसे निवृत्त होने के लिए कैसी भावना करनी चाहिए? इसका समाधान इस श्लोकमें है। जगतमें परपदार्थोंके प्रति जितने संबन्ध लगाये गये हैं उन सम्बन्धोंमें सबसे निकट आंतरिक सम्बन्ध होता है समझने और समझाने वालेका। इसलिए अन्य सम्बन्धोंमें भेदविज्ञान करानेका यत्न न करके एक इस गुरु-शिष्यत्वके विषयमें भेदविज्ञानकी चर्चा इस छंदमें की है। और निकट सम्बन्ध ही जब कुछ नहीं है—यह ध्यानमें आ गया तो बाह्य सम्बन्ध तो इसके कुछ हैं ही नहीं, यह स्वयं सिद्ध हो जायेगा।

गुरुशिष्यत्व जैसे निकट सम्बन्धमें भेदविज्ञान— भैया! लोकमें झट सम्बन्ध होना, रिश्तेदार बने ऐसे जितने भी सम्बन्ध हैं उन सबकी अपेक्षा समझने और समझाने वालेका सम्बन्ध सुगम और शीघ्र होने वाला होता है। उसीके सम्बन्धमें कह रहे हैं कि भाई मैं दूसरोंके द्वारा समझाया गया हूँ अथवा समझाने योग्य हूं, और मैं दूसरोंको समझाता हूं ऐसी भी अन्तरमें श्रद्धा हो, प्रतीति हो, विश्वास हो तो वे केवल पागलकी सी चेष्टायें समझना, क्योंकि यह मैं आत्मा निर्विकल्प हूं, और यह ही मैं क्या सर्व जीव स्वरसतः स्वभावतः निर्विकल्प हैं, जैसे कि लोकमें प्रसिद्ध है कि पंडित जी ने इन १० बालकों को समझा दिया, सिखा दिया, ज्ञान दे दिया और उस बच्चे ने अमुक महाराजसे खूब सीख लिया। जैसे यहां लोकव्यवहारमें बोलते हैं—उसमें तात्त्विक दृष्टि नहीं रक्खी गयी है, किन्तु जो कुछ फलित देखा गया है निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके प्रसंगमें उसका ही वर्णन चलता है।

किसीकी परिणतिका परमें अभाव— एक गुरु यदि अपना ज्ञान शिष्योंको दे दे तो बहुत काल तक शिष्योंको ज्ञान देने पर वह गुरु ज्ञान रहित हो जायेगा, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। और तत्त्वदृष्टिसे देखो तो यह समझाने वाला गुरुका आत्मा जितना यह ज्ञानानन्दस्वरूप है तन्मय ही तो है और ज्ञानानन्दका जो विस्तार है वही प्रदेश है। तो यह अपने प्रदेशमें ही तो अपना परिणमन करता है। प्रदेशसे बाहर कहां परिणमन करे?, फिर इस गुरुका यत्न परके परिणमनमें कैसे हो सकता है? एक समझाना ही क्या कुछ भी बात किसी एकके द्वारा किसी दूसरेमें हुआ नहीं करती। यह परमार्थ दृष्टिकी चर्चा चल रही है। कोई परमार्थकी बात

को व्यवहारदृष्टिसे सुने तो तत्त्व न जमेगा।

प्रत्येक चेष्टा अपनी वेदनाका इलाज— एक ऐसा ही प्रसंग हुआ कि कहीं कोई जज मोटरमें बैठकर कचेहरी जा रहा था, सिपाही के साथ। रास्तेमें एक गधा कीचड़में फंसा हुआ तड़फ रहा था। जजसे न रहा गया उसे देखकर, सो मोटरसे उतरकर उसे निकालने लगा। सिपाही मना करने लगा, अरे ठहरो हम लोग तो हैं निकाल देंगे। लेकिन जजने एक न मानी। उसके पेंट कोट पर कीचड़के १०–२० दाग लग गए। समय ज्यादा न था, सो यों ही झट पहुंच गया। कचेहरीमें जिन लोगोंने देखा कि आज जज साहब कीचड़से लथपथ होकर आए हैं, सोचा कि आज क्या मामला है? तो वह सिपाही कहने लगा कि जज साहब बड़े दयालु हैं, रास्तेमें कीचड़में फंसे हुए तड़फते हुए गधेको देखकर इनसे रहा गया तो स्वयं अपने हाथोंसे निकालकर आए हैं। यह बात जब जज ने सुनी तो जज कहता है कि भैया हमने गधे पर कोई दया नहीं की। हमने तो अपने पर दया की। उस समय गधेकी तड़फन देखकर मेरे हृदयमें तड़फन हो गयी, मैं दुःखी हो गया। उस समय और इलाज ही क्या था उस दुःख को मिटाने का? सो उस दुःखको मिटानेका जो इलाज था वह मैंने किया। यदि मैं उस गधेको कीचड़से न निकालता तो जब-जब उसका मुझे ख्याल आता तब तब मैं ही तो दुःखी होता। सो मैंने अपना ही दुःख मिटानेके लिए यह प्रयत्न किया।

प्रत्येक यत्नका प्रयोजन अशान्तिविलय— भैया! एक नहीं अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं और घर-घरकी घटनाएँ हैं। कोई परिवारका प्रमुख सोचता होगा कि मैं इन १०–२० लोगों पर दया करता हूं, इन्हें पालता पोषता हूं। अरे क्या कर रहा है वह प्रमुख? उसके चित्तमें किन्हीं कल्पनावोंके कारण कुछ दर्द होता है, क्लेश होता है। बच्चे लोग सुखी रहें, इन लोगोंकी व्यवस्था अच्छी रहे तो कल्पनावोंके उठने से जो अपने आपमें अशांति होती है उस अशांतिको दूर करनेका प्रयत्न करता है, किसी दूसरेका कुछ परिणमन नहीं करता।

गुरु शिष्यकी चेष्टा—यहां दृष्टांतमें ली गयी है गुरु शिष्यकी बात। चूँकि यह समाधितन्त्र ग्रन्थ है और अध्यात्मयोगियोंको समझानेके लिए इस ग्रन्थकी रचना है और बाहरी सम्बन्ध एक दूसरेकी परिणति समझाने और समझने की ही होती है इस कारण वही दृष्टांत लिया। दूसरे लोग जो मेरे व्यवहारमें हितू कहलाते हैं—गुरुजन वे भी मानो इन शिष्योंके विनयसे उनके चित्तमें उनके उपकारकी चिकीर्षाकी एक वेदना होती है कि

इन्हें राग किया है, पढ़ा है, सुना है, सो ऐसी जो इन्हें एक कल्पनामयी वेदना हुई। इस वेदनाके मिटानेका इलाज क्या था? जो था वही चेष्टा की और समझने वालोंने जो समझानेकी चेष्टा की। और भी जो मन, वचन, कायकी चेष्टा की, वह भी इन शिष्योंने अपनी कल्पनाके अनुसार जो इच्छाएँ हुईं उन इच्छाओंकी पूर्ति की।

प्रतिपाद्य प्रतिपादकमें स्वतंत्रताका दर्शन- कोई किसी दूसरेका कुछ परिणमन नहीं करता है किन्तु सब अपने अपने भावोंके अनुसार अपनेमें अपनी चेष्टा किया करते हैं। यह बात इसलिए कही जा रही है कि हे योगियो ! तुम वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपको निरखो। जब किसीके द्वारा आत्मामें कुछ परिणति नहीं होती, हमारे द्वारा किसी अन्यमें कुछ परिणति नहीं होती, तब फिर परके सम्बन्धमें कोई कल्पनाएँ बनाना या अन्तर्जल्प करना यह विवेक कहा जा सकता है। इन अन्तर्जल्पोंको त्यागनेके लिए यह एक उपदेश किया गया है।

व्यवहारके प्रयोजनके अपरिचयमें विडम्बनाका एक उदाहरण— भैया ! व्यवहारकी बात व्यवहारमें है, पर यह निश्चय दृष्टि रखकर कथन चल रहा है। व्यवहारमें तो लोग यों भी कह देते हैं कि हमने इतने लोगों को गधेसे आदमी बनाया। बनावो यह भी कोई आश्चर्यकी बात है। एक जगह कोई मास्टर बच्चोंसे ऐसा ही कह रहे थे कि देखो हमने २० गधोंको आदमी बना डाला। एक कुम्हारने यह बात सुनी कि ये गुरुजी महाराज तो गधे से आदमी बना देते हैं। हमारे कोई लड़का नहीं है सो हम भी अपने गधेका लड़का बनवा लें। पहुंचा गुरु जी के पास, बोला आप बड़े दयालु हैं, आपने २० गधोंको आदमी बना दिया, एक मेरे गधेको भी आदमी बना दो। मास्टरने सोचा कि यह तो बेवकूफ मालूम होता है, इस से फायदा उठाना चाहिए। मास्टरने कहा अच्छा ले आना, मैं गधे का आदमी बना दूंगा। गधा वह ले आया। लीजिए साहब। मास्टर बोला— देखो ७ वें दिन ठीक १२ बजे दिनमें आ जाना, तुमको आदमी तैयार मिलेगा। वह जानता था कि यह तो देहाती आदमी है। शहरके लोग भी ठीक समयकी पाबंदी नहीं करते तो यह देहाती क्या करेगा?

अब ७वें दिन वह देहाती दो बजे पहुंचा। बोला मास्टर जी हमारा आदमी दो। तो मास्टर जी बोले कि तुम दो घंटे लेट आए, वह गधेसे आदमी बन चुका। दो घंटे पहिले तो यहीं था, यदि दो घंटे पहिले आते तो यहीं तेरा आदमी मिल जाता, पर इस समय तो वह जज बन गया है और फलां कचेहरीमें न्याय कर रहा है। सो अब तो हमारे बसकी बात

नहीं रही। १२ बजेमें आते तो यहीं मिल जाता। अब तो तुम कचेहरी चले जावो। तुम्हारे साथ आये तो ले आवो। मास्टरने गधेको २०-२५ रुपयेमें बेचकर अपना काम चलाया। अब वह बेचारा गधेका तोंबरा, रस्सी आदि गधेसे सम्बंधित चीजें लेकर कचेहरी पहुंचा ताकि उसे देखकर खबर हो जायगी और हमारे साथ चल देगा। सो कचेहरी के मुख्य दरवाजे पर बैठ कर कहता है—ओ, ओ, आवो आवो, अरे तुम क्यों हमसे नाराज हो गए हमको दो ही घंटेकी तो देर हो गयी। वह बार-बार तोंबरा दिखाकर कहता है—ओह माफ करो—चलो—घर चलो। जज कुछ अर्थ न समझे। सो जजने दरवानों को हुक्म दिया कि कान पकड़ कर यहांसे हटावो। दरवानोंने उसे कान पकड़ कर वहांसे हटा दिया।

व्यवहारके तथ्यकी ज्ञातव्यता—तो भैया! व्यवहारमें कितनी ही ऐसी बातें होती हैं। कुछ होती हैं निश्चयका प्रतिपादन करने वाली और कुछ होती हैं सद्भूत व्यवहार बताने वाली और कुछ होती हैं उपचाररूप। मास्टरका कहना व्यवहार दृष्टिसे गलत नहीं था कि मैंने बीसों गधोंको आदमी बना दिया, मगर अर्थ वहां क्या था कि जिसमें विवेक कम था, बुद्धि कम थी, पढ़े लिखे न थे—ऐसे मनुष्योंका नाम गधा रक्खा गया है, और लोग कहते भी तो हैं अपने बच्चेंको—ऐ गधे। तो व्यवहारमें तथ्य क्या है? उस तथ्यसे अनभिज्ञ पुरुष कुम्हार जैसे ही धोखेके पात्र बनते हैं।

समागमके कालमें विवेककी आवश्यकता— मैं दूसरोको समझाता हूं दूसरे मुझे समझा देते हैं—ऐसा जो कथन है वह व्यवहाररूप तो है पर परमार्थसे बात ऐसी है नहीं। मैं जो कुछ करता हूं अपने गुणोंका परिणमन करता हूं, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कर सकता हूं। कई बातों की खबर तो लुट पिटनेके बाद विदित होती है। और जब तक मौजमें है, उदय भला है, अपना ऐश्वर्य चलता है, चला चलता है तब तक कुछ बातें नहीं भी समझमें आती हैं, पर चीज गुजरनेके बाद ध्यानमें आती है।

जैसे जब तक इष्ट पुरुष अथवा स्त्रीका समागम है तब तक यह ख्यालमें ही प्राय नहीं आता कि यह भिन्न जीव है, मैं भिन्न जीव हूं। मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं है और यह समागम बिछुड़ने वाला है, ऐसा ध्यान ही नहीं होता। और अचानक जब कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि बिछुड़ जाता है तो ८, १० दिन तो जरा परेशानी रहती है, और अपनी ओर से भी यदि कुछ परेशानी मिटा देवे तो रिश्तेदार नहीं मानते। उनका ऐसा यत्न होता है कि कमसे कम इसे १३ दिन तो रोना ही

चाहिए, पहिलेसे क्यों शांत हो? कोई चौथे दिन आया, कोई छठे दिन आया चाहे रेलमें तास खेलते हुए आये हों पर उस फेरे वालेके यहा तो १०-२० कदमसे रोते हुए आया करते हैं। तो जब वियोग हो जाता है तब तो कुछ पता हो जाता है कि ओह मेरा कुछ न था, ये संसारके मुसाफिर थे, यह तो होना ही था, १० वर्ष बाद होता था अभी हो गया--ऐसा ज्ञान समागम के सम्बन्धमें भी रहे तो वह गृहस्थी गृहस्थके योग्य तपस्वी कहलायेगा।

गृहस्थके योग्य प्रथम तप--गृहस्थकी मुख्य दो तपस्याएं हैं जिन्हें करना शांतिके अत्यन्त लिए आवश्यक है। पहिली तपस्या तो यह है कि परिग्रहका परिमाण बनाना। मैं इतनेसे अधिक न रक्खूंगा। और जो भी आय हो उसके विभाग बनाकर इतना धर्मके लिए, इतना खाने पीनेके लिए, इतना अमुक कार्यके लिए उसके विभाग बनाना और उन विभागोंमें गुजारा करना जितना अपने निकट है। उससे अधिक किसी धनीको देखे तो उसमें आश्चर्य न करना और न धनके कारण उनका महत्व समझना--यह है उनकी पहिली तपस्या। अब आप सोच लो। ऐसा करना तो बड़ा कठिन हो रहा है। अरे तो कठिन तो होता ही है, संयम नहीं तो तपस्या नाम इसे क्यों दिया? पर यह भी सोच लीजिए कि ऐसा यदि किया जाय तो उसमें शांति और संतोप मिलता है या नहीं? तपस्याका फल आनन्द है, संतोप है।

तपमें अन्तःआनन्द--कोई लोग ऐसा समझते हैं कि साधुजन बड़ा कष्ट सहते हैं गरमीमें, धूपमें ध्यान लगाते, शीत कालमें बिना वस्त्रके ही बने रहते, जगलमें पड़े रहते, बड़ा कष्ट सहते। किन्तु यदि साधु सच्चा है, आतरिक योगी है तो इन तपस्यायोंमें उसे अद्भुत आनन्द मिलता है। कैसे कि उस तपस्याका पहिला सुफल तो यो हुआ कि गंदे विचार विपय कपाय ये नहीं आ सके। और दूसरा सुफल यह हुआ कि जब विपय कपाय गदे विचार आत्मामें नहीं आ सके तो ऐसी स्थितिमें परके विकल्प त्याग कर निज ज्ञानस्वरसका अनुभव बना सकें। बाहरसे देखो तो क्या गुजर रहा है—तेज धूप, पसीना बह रहा है। अन्तरमें देखो तो वीतराग सहज आनन्दसे मानों लगातार घूंट ही पीते जा रहे हों, ऐसे आनन्दसे छका हुआ है आत्मा। तपस्यां शांति और संतोषके लिए होती है। स्वच्छन्दता व उद्दण्डता असंतोप और अशातिके लिए होते हैं। और अंतमें वह अपनेको असहाय और रीता पाता है। प्रथम तपस्या तो यह हुई गृहस्थजनों की।

गृहस्थके योग्य द्वितीय तप--दूसरी तपस्या यह है कि वर्तमानमें

जो कुछ मिला हुआ है समागम चेतन और अचेतनका उस सर्वसमागमके प्रति यह भावना रक्खें कि ये सब विनश्वर हैं, बिछुड़ जाने वाले हैं, मैं तो अपने आप जो हूं सो ही रहूंगा—ऐसी प्रतीति और भावना रक्खें। यह दूसरा तप है गृहस्थजनोंका। अब आप सोच लीजिए कि यदि ये दो तपस्याएँ बन सकी तो कितना संतोष और आनन्द होगा? धनी बनने के लिए दौड़ क्यों लगायी जा रही है? कुछ तो उत्तर दो मनमें। बहुत धनी बनकर क्या काम निकल जायेगा? वास्तविक उत्तर दीजिए। स्वप्नकी बातोंसे समाधान नहीं करना है। क्या होगा अंतमें? लखपति, करोड़पति हो गए तो क्या हो गए? लोग बताते हैं कि अमेरिकामें जो फोर्ड कम्पनी का मालिक था वह मजदूरोंसे ईर्ष्या करता था, ओह ये बड़े सुखी हैं! अपनी अशांति सब समझता था।

नरजीवनमें दो मुख्य आवश्यकतायें—देखो भैया! शरीरकी दृष्टिसे इसके अन्दर पहुंचती हैं कोई पाव डेढ पावकी रोटियां और बाहरमें चाहिए थोडे सात्त्विक वस्त्र। इन दो चीजोंके अलावा और इसे क्या चाहिए? और तो सब पुण्योदयके चोचले हैं, पुण्योदयको पाकर इतराना है। ऐसा आराम बन जाय, ऐसी कलावोंसे भोग भोगा जाय, यह सब पर्यायबुद्धिका विस्तार है। और अंतरङ्गकी दृष्टिसे इसे क्या चाहिए? ज्ञान। ऐसा वातावरण, ऐसा संग, ऐसा उपदेश जो निजतत्त्वका, स्वभाव का स्पर्श करा सके, ज्ञानानन्दस्वभावका अनुभव करा सके—ऐसा चाहिए समस्त ज्ञानका वातावरण। अन्तरको चाहिए ज्ञानकी खुराक, बाहरको चाहिए पाव डेढ पावकी भोजनकी खुराक। इसके अतिरिक्त अन्य सब बातें इसके लिए क्या आवश्यक है?

पुराण महापुरुषोंकी कृति—बड़े-बड़े राजा महाराजा, चक्री, बड़े वैभवसम्पन्न समस्त, समस्त वैभवोंको त्याग देते हैं। यहां तक कि वस्त्रोंका भी त्याग करा देते हैं। उसकी भी क्यों ममता होना, क्यों चिंता होना, कहां लंगोट सुखाएँ, कहां सुखाकर धरें? एक अध्यात्मयोगीको बाह्यविषयक इतनी भी चिंता अखरती है। योगमें बढने पर सब कुछ छूट जाता है, तो बड़े-बड़े राजा महाराजा लोग भी जिन्दगीके सारे अनुभव पा चुकनेके बाद यह निर्णय करके गये कि छोड़ो परिग्रह, छोड़ो समागम और एक ज्ञान-वासनासे ही अपने सरकार बनाओ। अब समझ लीजिए कि इन बाह्य पदार्थोंसे हमारा क्या पूरा पड़ेगा? फिर बाह्यपदार्थोंसे अपना बड़प्पन मानना या मैं अमुक घर मकान दुकान को बनाता हूं—ऐसी बुद्धि बनाना इसे उन्मत्त चेष्टा कहें या न कहें।

प्रतिपाद्य प्रतिपादकमें स्वतन्त्रताका निर्णय— आचार्यदेव यहां यह बतला रहे हैं कि मैं दूसरोंके द्वारा समझाया जाने वाला हूं, मैं दूसरोंको समझाता हूं—ऐसा सम्बन्ध समझना यह भी उन्मत्त चेष्टा है। बतलावो प्रकृतकी हो तो बात है, लोक व्यवहारमें तो हम समझाने बैठ गये और आप सब समझने बैठ गए और दिखता भी ऐसा है। मानो हम तो समझा रहे हैं और आप समझ रहे हैं, पर बात कुछ और ही है। मैं अपने भावोंके अनुसार, इच्छाके अनुसार अपनी चेष्टा करता जाता हूं और आप अपने भावोंके अनुसार अपनी चेष्टा करते जाते हैं। न आपमें मैंने कुछ किया, न मुझमें आपने कुछ किया, फिर भ्रम क्यों हो गया लोगोंको कि यह समझाते हैं और हम लोग समझते हैं। उस भ्रमका कारण हो सकता है तो एक मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध। क्या मैं जंगलमें भी ऐसी बातें किया करता हूं जैसी अब कर रहा हूं? क्या आपको ऐसी उम्मीद है, या जो हमारे साथ जाते हैं उनसे पूछ लो। यदि हम ऐसा करें तो लोग हमें सरासर पागल कहने लगेंगे। या आप लोग क्या कभी इस तरहसे कान लगा कर ऐसी दृष्टि लगाकर कभी बैठते हैं? तो आपका निमित्त पाकर हम अपनी चेष्टा करते हैं और हमारा निमित्त पाकर आप अपनी चेष्टा करते हैं। इतना मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध देखकर आगे बढ़ गये, पर न मैं आपको समझाता हूं और न आपके द्वारा मैं समझाया जाता हूं। यदि कर्तृत्व मानें तो यह उन्मत्त चेष्टा है। मैं तो निर्विकल्प हूं, इस भावनाके बलसे अन्तरङ्ग जल्पका भी परित्याग होता है।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

स्वरूपभावना— 'मैं क्या हूं' इस अतस्तत्त्वको जान लेने पर फिर समाधिके साधनाका जो उपाय है बहिर्जल्पका त्याग और अन्तर्जल्पोंका त्याग, ये दोनों ही बातें निभ जाती हैं। मैं ऐसा स्वसम्वेद्य तत्त्व हूं, जो अग्राह्यको ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किए हुए को छोड़ता नहीं है। जो तत्त्व मेरेमें नहीं है वह कभी मुझमें आ ही नहीं सकता और जिस तत्त्वको मैंने स्वरसतः ग्रहण किया है, वह कभी मुझसे अलग नहीं होता। देखो यह अपना स्वरूप जो ग्रहण किए हुएको कभी नहीं छोड़ता उसने ग्रहण किया है सहज ज्ञानस्वरूपको। जो अनादिसे अनन्त काल तक शाश्वत तादात्म्य रूपमें रहने वाला है वह कभी छूट नहीं सकता। जो मुझमें नहीं है ऐसे यह समस्त परभाव परतत्त्व उनको यह मैं अर्थात् अंतस्तत्त्व कभी ग्रहण नहीं करता। ऐसे अतस्तत्त्वकी जिन्हें दृष्टि नहीं है ऐसे पुरुष बाह्य निमित्त-

नैमित्तिक भावोंके कारण ग्रहण करना और छोड़ना मानता है।

स्वभाव और वर्तमानप्रवृत्ति— मैं बाह्य पदार्थोंको न तो ग्रहण किए हुए हूं और न उनका मै छोड़ने वाला हूं। छूटा तो वह है ही स्वभावसे। छोड़नेका व्यपदेश तब होता है जब उन्हें ग्रहण किए हुए हों। सो वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि किसी तत्त्वमे किसी अन्य तत्त्वका प्रवेश नहीं है। यह मै आत्मतत्त्व तो सर्वपदार्थोंको जानता तो रहता हू किन्तु किसी पदार्थसे मेरा सम्बन्ध है नहीं। ऐसे अपने आपके ज्ञानके द्वारा संवेदन करने योग्य यह मै आत्मतत्त्व हूं। मै वस्तुतः क्या हू, इसका परिचय तब तक नहीं होता जब तक अहंकार और ममबुद्धिका त्याग न हो सके। अज्ञानकी स्थितिमे कोई सग्रह भावको अपनाता है तो कोई त्यागभावको अपनाता है। मैं इतने मनुष्योंको पालता पोपता हूं, इतने घर दुकानकी व्यवस्था बनाता हूं, जैसे यह श्रद्धा मोहमे भरे हैं इसी प्रकार अन्तरमे यह विकल्प जगना कि मैंने अमुक-अमुक चीजको त्याग दिया है, मैने घर छोड़ दिया है, आहारका परित्याग कर दिया है, ऐसे त्यागसम्बन्धी विकल्पोको अपनाना यह भी मोह है।

व्यामोहमें ग्रहण त्यागका विकल्प— यथार्थ श्रद्धा सहित गृहस्थ यदि घरको अपना कह दे और घरकी व्यवस्था मैं करता हू ऐसा वचन बोल दे तो श्रद्धामें कोई दोष नहीं है। ऐसे ही कोई यथार्थ श्रद्धा सहित त्यागकी भी बात बोल दे तो श्रद्धामे वहां भी दोष नहीं है। किन्हीं पुरुषो को तो ऐसा व्यामोह पड़ा है कि वे परको लपेटने का विकल्प रखते है और किन्हींको ऐसा व्यामोह पड़ा है कि वे त्याग करनेका विकल्प अपनाते हैं।

आत्माका यथार्थ ज्ञातृत्व— भैया! परपदार्थ तो छूटे ही हुए है। न मैं उनका ग्रहण करता हू, न त्याग करता हू किन्तु मैं जानता भर हू। पहिले मै इष्ट बुद्धि सहित जानता था अथवा मैं उन्हें अपनाता हुआ जानता था, अब वहां न अपनाता हुआ यथावत् जानता हूं, पर मै जानने से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता हूं। जो अन्य पदार्थोंको न ग्रहण करता है, न छोड़ता है, स्वतः ही विविक्त है, शाश्वत परिपूर्ण है ऐसा यह मै आत्मतत्त्व हूं। मरण समयमे विषाद इस जीवको इस बातका अधिक होता है कि मैंने इतनी कमायी की, इतना संचय किया और यह सब एक साथ छूटा जा रहा है। यथार्थज्ञान वालोंको ऐसा विकल्पमय क्लेश नहीं होता है। वे जानते हैं कि न मैने कुछ परपदार्थोंकी कमायी की है और न परपदार्थ मेरे साथ हैं, जैसा मै था वैसा ही हू और यह मैं पूराका पूरा

ही यहांसे जाऊँगा, पूरा ही रहूंगा, अपनेमें अधेरेपनका विश्वास ज्ञानी को नहीं है।

स्वरूपपरिचय बिना विडम्बनाओंपर विडम्बना— ये जितनी भी लोकमें सम्बन्धकी विडम्बनाएँ बनी हैं वे स्वरूपपरिचय बिना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे बढ बढ कर कुछ कल्पनाएँ करने से बन गयी हैं और ये कल्पनाएँ बन गयीं बड़ी हठपूर्वक। अनर्थका इतना तीव्र आग्रह हो गया है कि वह उसे त्याग नहीं सकता। किसी भी क्षण यह जीव ऐसा अनुभव करना नहीं चाहता कि मैं व.रतवमें हूं ही सबसे न्यारा, केवल निजस्वरूप मात्र हूं, ऐसा रंग अन्तरमें चढ़ा हुआ है कि अकेला अनुभव नहीं कर पाता। मैं इतने वैभव वाला हूं, इतने संग वाला हूं, ऐसी पोजीशन का हू, ऐसा ही अनुभवन चलता रहता है। यह है एक असत्यकी हठ। इस असत्यके हठसे किसी समय ऐसा धोखा होगा कि एकदम ऊँचे से जैसे नीचे गिरना होता है, ऐसा ही पतन होगा। आज श्रेष्ठ जन्म मिला है, मनुष्य हुए हैं, बड़ी कलावोंसे अपना व्यवहार किया करते हैं पर न रहा अपने सत्यस्वरूपका ध्यान और न की गयी कुछ भी अपने स्वरूपकी उपासना, परभावोंकी ही हठ रही, ऐसी कुहठका फल यह है कि यह मनुष्य-भवसे छूटकर न जाने किस निम्न हालतमे पहुचेगा।

मनके दुरुपयोगका फल— भैया! मन मिला है पर मनका सदुपयोग नहीं करना चाहते। मनका सदुपयोग यही है कि वस्तुके यथार्थ स्वरूपके चिंतनमें इसे लगाया जाय और दूसरे नवम्बरका सदुपयोग यह है कि ससारके समस्त प्राणियोंका भला होना सोचा जाय, सब सुखी रहें। तो मनका सदुपयोग न किया गया बल्कि दुरुपयोग किया, दूसरोंका अहित विचारा, अपने स्वरूपकी सुध लेनेका भी ख्याल न रक्खा तो मानो प्रकृति कहेगी कि तुम्हें मनकी क्या जरूरत? दिया है तुम्हे मन तो मनका दुरुपयोग तुमने किया। फल यह होगा कि मन न मिलेगा क्योंकि तुम्हें मनकी जरूरत ही नहीं है। मन दिया है, पर सदुपयोग नहीं करना चाहते।

कर्णेन्द्रियके दुरुपयोगका फल— कर्णइन्द्रिय प्राप्त हुई है, पर कर्णइन्द्रिय पाकर भी यह व्यामोही जीव इसका सदुपयोग नहीं करना चाहता। सुनेगा तो कलहकी बात, रागकी बात, गप्पसप्प। धर्मवार्ता अथवा आत्महित जिन वचनोंसे सम्भव है, उन वचनोंमें कर्णइन्द्रियको नहीं लगाता, धर्म वचन नहीं सुहाते, कौतूहलकी बातें भली लगती हैं, तो प्रकृतिका यह निर्णय होगा कि तुमको कर्णेन्द्रियकी भी जरूरत नहीं मालूम होती क्योंकि मिले तो कान, पर कानोंका सदुपयोग नहीं किया। अब कर्णेन्द्रियकी तुम्हें

जरूरत नहीं है। कर्ण भी खत्म हो जायेंगे। अब पंचेन्द्रिय न रहे ऐसी स्थिति हो सकती है।

नेत्रके दुरुपयोगका फल— आखें पायीं, पर आंखोंका सदुपयोग नहीं किया जाता है दुरुपयोग ही किया जाता। जैसे कि सुन्दररूप निहारना, जो इष्ट पदार्थ हो उसे ही देखना, कैसा कैसा इस चक्षु इन्द्रियका विषय है कि छोटे लोग जो कुछ पैसे ही कमा पाते हैं तो चाहे वे भर पेट खाना न खायें पर लगन लगी है सिनेमाके देखनेकी। ऐसी लगन लग गयी है कि सिनेमा देखे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती। जिसमें जिसकी बुद्धि लगी है वह उसीमें अपने उपयोगको लगाता है। जिसके रागबुद्धि लगी है वह राग भावोंमें ही अपना उपयोग लगाता है और जिसकी आत्महित साधनाकी बुद्धि लगी है वह देवदर्शन, धर्मात्मावोंका संग, स्वाध्याय इन्हींमें अपना उपयोग लगाता है। जिसकी रागभावोंमें बुद्धि है उसको प्रकृतिका यह फैसला है कि तुम्हें मिले थे नेत्र, पर मालूम होता है कि इन नेत्रोंकी तुम्हें जरूरत नहीं है। सो अब नेत्रइन्द्रिय भी तुम्हें न मिलेगी। ऐसे घटते घटते यह जीव एकेन्द्रिय तक हो जायेगा। आत्माकी असावधानीमें और एकेन्द्रियमें भी सबसे अधिक निकृष्ट जीव हैं निगोद जीव। सो ऐसा निगोद तक बननेका प्रसंग होगा, यदि आत्माकी सावधानी न रक्खी।

स्वरूपदर्शनकी असावधानीका फल— देखो भैया! अपने स्वरूपसे यह स्वभावतः अपने स्वरूपरूप है। इसमें जो नहीं है वह कभी आ नहीं सकता और जो है वह कभी छूट नहीं सकता। मुझमें न द्रव्यकर्म है, न शरीरादिक पुद्गल हैं। और स्वभावदृष्टिसे देखो तो इसमें न रागद्वेषादिक भावकर्म है। धन वैभव तो प्रकट विराने हैं, ऐसे इन समस्त भिन्न तत्त्वोंका मेरे स्वभावमें ग्रहण नहीं है। ऐसे सबसे विविक्त इस चैतन्यस्वभावको जिसने नहीं पहिचाना उसकी संसारमें ऐसी ही अवस्थाएँ चलती हैं, जैसे कि हम किसी दीन पुरुषको निरखते हैं। जिनकी स्थिति बहुत खोटी है ऐसे बेचारे पशुवोंको देखते हैं—रोगी हैं, काटे छेदे जा रहे हैं, कषाइयोंके वशमें हैं, उनको देखकर कुछ तो ध्यान करना ही चाहिए कि अपने आत्माकी सावधानी न रक्खे तो उसका यह फल है कि ऐसी अवस्था मिलेगी

व्यामोहमें करुणाका कारण— भैया! होना तो है कुछ ध्यान किसी दुःखी सताये हुए पशुको देखकर करुणा तो आती है, वह करुणा इस बातकी सूचना देती है कि इसने उस जीवके साथ अपनी तुलना की है अन्यथा इसे करुणा नहीं आ सकती। ऐसा ही तो मैं जीव हूं जैसे कि ये सूकर आदिक हैं। ऐसी भीतरमें घुसी हुई धारणा पड़ी है, उस जीवके तब

तो सताये हुए पशुको निरखकर अन्तरमें वेदना जगती है। उस अन्तर-वेदनाके सम्बन्धमें यह भावना करनी चाहिए कि यह सब भूल जो है ज्ञान भावनासे शून्य होने पर है।

देहोंकी अवगाहनासे वैराग्यका शिक्षण— जब जीवोंकी विशेष अवस्थाएँ जान रहे हो ऐसे ऐसे मगर हैं, मच्छ हैं—स्वयंभूरमण समुद्रमें सबसे बड़ी अवगाहना का मच्छ है, एकेन्द्रिय आदिकमें ऐसी-ऐसी अवगाहना वाले जीव हैं। इन सब पाठोंको पढकर यह सोचना चाहिए कि एक निज ज्ञानस्वभावकी भावनाके बिना जीवोंको ऐसी-ऐसी देहोंमें जन्म लेना होता है। सूक्ष्म निगोद जीवका अगुलके असंख्यातवें भाग शरीर होता है और उसमें एक प्रदेश बढ़े, दो प्रदेश बढ़े इस तरहसे एक-एक प्रदेश बढ़ बढ कर एक बडे मच्छकी अवगाहना बराबर हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा, इतना देह तक पा लेता है। जघन्य अवगाहनासे इस अवगाहना तक बीचमें कितनी प्रकारके शरीर हुए, अंगुलके असंख्यातवें भाग बराबर शरीर पर एक-एक प्रदेश बढते बढ़ते इतनी बडी अवगाहना तक कितने विकल्प होंगे, उतनी प्रकारके शरीरोंमें इस जीवने इस ज्ञानभावनाके बिना भव धारण किया।

आत्मभावनाका प्रसाद— वह कौनसी भावना है, कौनसा वह आत्मस्वरूप है जिसके प्रसादसे सब संकट मिट जाते हैं, उसका ही वर्णन इस श्लोकमें है। मैं वह परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप हूं जो न ग्रहण किए हुएको तो ग्रहण नही करता और ग्रहण किए हुएको छोड़ता नहीं है, किन्तु सर्व प्रकारसे सबको यथावत् जानता रहता है। ऐसा अपने आपके द्वारा सम्वेद्य मैं आत्मतत्त्व हू। ऐसे आत्मस्वरूपकी भावनाके बलसे यह जीव बाह्य वचनव्यवहारको छोड़ता है और अन्तरङ्गमें उठने वाले जल्पोंका परित्याग करता है, परविषयक किसी भी प्रकारकी कल्पनाको नहीं होने देता है। और तब समाधिजात आनन्दको अनुभवता है।

जोड़रहित तोड़रहित निर्विकल्पभावकी प्रसिद्धि— यह मै आत्मतत्त्व परिपूर्ण पुष्ट हू। जो इसमें है वह यहांसे कभी छूटता नहीं है और जो इसमें नहीं है वह कभी भी आ सकता नहीं है, ऐसा ज्ञानानन्द स्वभावमात्र यह मैं आत्मा अपने आपके ज्ञान द्वारा ही सम्वेदन करनेके योग्य हूं। इस श्लोकमें यह निर्विकल्प स्वरूपका वर्णन इसलिए किया गया कि इससे पहिले श्लोकमें बहिर्जल्प और अन्तर्जल्पका त्याग करनेके उपायमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकका भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह बताकर स्वको निर्विकल्प प्रसिद्ध किया था। अब वह निर्विकल्प आत्मतत्त्व किस प्रकार है इसका

वर्णन इस छंदमें इस रूपमे किया है कि न तो इसमें कोई जोड़ होता है और न इसमेंसे कुछ तोड़ होता है। जो निर्विकल्प पदार्थ होता है वह जोड़ और तोड़ दोनोंसे रहित होता है। ऐसे इस निर्विकल्प स्वरूपको बताकर अब यह दिखा रहे हैं कि ऐसा आत्मानुभव होनेसे पहिले इस आत्माकी क्या-क्या अवस्था हुई है? पूज्यपाद स्वामी इस विषयमें अब कह रहे हैं।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

भ्रमचेष्टा-- यहां एक दृष्टान्तपूर्वक भ्रमकी बात बता रहे हैं- जैसे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें कोई टहलने जा रहा हो, बहुत दूर निकल गया और ऐसी सड़कपर निकल गया जिस पर वह कभी न गया था। कुछ अंधेरेमे कुछ उजेलेमे बहुत दूर पर एक वृक्षका ठूठ खड़ा हुआ था। शाखाये तो सब गिरा दी गयी थीं, खाली सूखा ठूठ रह गया था जो ५ या ५॥ फुटका ऊँचा था। उस टहलने वाले ने देखा, पर वह समझ न पाया कि यह ठूठ है। दूर से दिखाई देने पर उसे पुरुषका भ्रम हो गया। तो उस ठूठमे पुरुषका भ्रम हो जानेसे अब उसकी चेष्टाएं कुछ और प्रकारकी हो गयीं। यह कौन भयानक खड़ा है, कहीं डाकू तो नहीं है, कहीं और कोई धोखे वाला तो नहीं है, उसे कुछ भयसा हो गया, कुछ जिज्ञासासी हो गयी, बात क्या है, इतने समय यहां यह क्यों खड़ा हुआ है? तो जैसे ठूठमे पुरुषका भ्रम हो जाने से कुछ अन्य-अन्य प्रकारकी चेष्टा हो जाती हैं, इसी प्रकार इस देहादिकमें आत्माका भ्रम हो जाने से पहिले मेरी ही ऐसी विचित्र चेष्टाएँ हुई थीं।

भ्रममूलक व्यवहार-- कहां तो यह ज्ञानानन्दस्वभाव स्थिर अचल ब्रह्मस्वरूप है और कहां इतनी चेष्टाएँ करनी पड़ रही है? किसीको मित्र माना, किसीको रिश्तेदार समझा, ऐसा जैसा जिसका व्यवहार है उस प्रकारका व्यवहार करना यह देहादिकमे आत्माका भ्रम होने से ही तो हो रहा है, किसीके पैर छू रहे हैं, किसीको आशीर्वाद दे रहे हैं, किसी से घुल मिलकर बातें कर रहे हैं, किसीसे कैसा ही व्यवहार है, यह क्या व्यवहार है? यह एक ऐसा भी व्यवहार है कि समधिन-समधी को देखकर अलग छिप जाती है। आंखों एक दूसरे को कोई देख नहीं सकते या और और तरहके विचित्र व्यवहार चलते हैं। ये क्या आत्माके दर्शीके व्यवहार हैं अथवा आत्मत्वके नाते के व्यवहार चलते हैं। ये देहमे आत्माका भ्रम हो जानेसे सारे व्यवहार हैं।

ज्ञानी और अज्ञानीके आशयमे अन्तर-- भैया! एक चेष्टा नहीं,

संसारी पुरुषोंके मन, वचन, कायकी जितनी चेष्टायें हो रही हैं, उन सबमें देहमें आत्माके भ्रमका मूल पड़ा हुआ है। हालांकि लोकव्यवहारमें वह कर्तव्यकी बात मानी जाती है। जैसे देशकी रक्षा करना, समाजकी रक्षा करना, कुटुम्बकी रक्षा करना कर्तव्य माना जाता है, ठीक है, पर इस प्रकारके जो परिणाम होते हैं उनमें तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार होते हैं। ये सब बुद्धियां क्या देहमें आत्माकी बुद्धि किए बिना हो सकती हैं? होती भी हैं किसी ज्ञानीके, ऐसा निष्काम कर्मयोग है, परन्तु निष्काम कर्मयोगमें आसक्ति नहीं होती है। आसानीसे बने तो बने, न बने तो उसके लिए कमर कसकर नहीं गिरा करते हैं। इतना अन्तर है आसक्तिपूर्वक कार्य करनेमें और निष्काम कर्मयोगमें।

अनासक्तिका एक उदाहरण—एक कथानक है कि नगरका राजा गुजर गया तो मन्त्रियोंने सलाहकी कि राजवंशमें तो कोई उत्तराधिकारी है नहीं। किसे राजा चुना जाय? सलाहमें निश्चित हुआ कि ५ बजे सुबह इस महलका अग्रिम फाटक खोला जाय, जो फाटकके पास मिले उसको ही राजा बनाया जाय। खोला फाटक तो एक संन्यासी लंगोट पहिने हुए मिला। उसके हाथ पकड़ कर मन्त्रियोंने कहा कि चलो तुम्हें राजा बनायेंगे। साधु बोला—नहीं नहीं, हम यह आफत नहीं लेना चाहते। बड़ा आग्रह किया तो इस शर्त पर वह राजा बनने को तैयार हो गया कि हमसे राजकाजकी कोई चर्चा न करना। हम बैठे भर रहेंगे। अच्छा महाराज आप से राजकाजकी कोई चर्चा न करेंगे। साधुको राजदरबारमें ले गए। साधु ने अपने कपडे उतार दिए और राजवस्त्र धारण कर लिये। एक छोटी सी काठकी पेटीमें अपना लंगोट रख दिया। दो तीन वर्ष तक खूब राजकाज चला। इतनेमें एक शत्रु ने आकर उस पर आक्रमण कर दिया। अब मंत्री लोग घबड़ाए और पूछा—महाराज अब क्या करना चाहिए शत्रु तो सिर पर चढ आया। महाराज कहते हैं कि अच्छा हम बताते हैं—जरा वह पेटी उठावो, पेटी खोलकर लंगोट निकाल कर, राजवस्त्र फेंककर लंगोट पहिन कर और चलते हुए कहता है कि हम रामको तो यह करना है, और तुमको जो करना हो सो तुम जानो।

ज्ञानीका शुद्ध चित्त—तो ज्ञानी जन अज्ञानीकी भांति उड़कर नहीं चलते हैं। लोकव्यवहारमें चाहे कोई माने, चाहे न माने, उलटा चले, तब भी मोह किया जा रहा है। कितना ही समझाया जाय, बताया जाय, हित की बात प्रेम सहित कही जाय। मान लिया तो ठीक, न मानें लोग तो ज्ञाता रह गये। किन्तु मोहमें ऐसा नहीं होता है, कितनी ही विपत्तियां

आएँ फिर भी परिजनकी ममता त्यागी नहीं जा सकती। कितनी ही मोती पोते पीटें फिर भी उनके बाबा ही तो रहेंगे, कोई बाबा कहलाना तो न मिटा देगा। ऐसी मनमें ममताकी आसक्ति ज्ञानीपुरुषके नहीं होती।

ज्ञान होने पर अज्ञान चेष्टाका बोध व एक उदाहरण— यह ज्ञानी सोच रहा है कि आत्मज्ञानसे पहिले मुझे देहमें आत्माका भ्रम था, इस कारण मेरी ऐसी चेष्टा हुई है जो आत्माके नाते से विपरीत थी। किसी पुरुषको अंधेरे उजेलेमें घरके बाहर पड़ी हुई तीन चार हाथकी लम्बी रस्सी टेढ़ी मेढ़ी पड़ी हुई दिख जाय तो सांपका भ्रम होने पर उसकी कैसी चेष्टा हो जायेगी? घबड़ाहट, चिल्लाहट। लोगोंको बुलायेगा, बचावके साधन इकट्ठे करेगा और यहां तो बचाव कौन करता है, सीधी लाठी वगैरह ढूँढते हैं। तो सारा यत्न करेगा, चित्तमें अशांति हो जायेगी ये सब भ्रम की चेष्टाएँ हैं। शायद लाठीके प्रहार भी कर दे और १०--२० लाठी लग जाने पर फिर जरा निकट जाकर देखे कि यह मरा कि नहीं मरा और उठाया तो माथा धुनता है— ओह यह तो रस्सी ही थी, भ्रममें मैंने वृथा क्या चेष्टाएँ कर डालीं?

ज्ञानमें अज्ञानचेष्टाका निर्णय— इसी प्रकार अपने आत्मा द्वारा अधिष्ठित देहमें यह मैं हूं ऐसा भ्रम किया और पर-आत्मा द्वारा अधिष्ठित देहमें यह पर है ऐसा भ्रम किया, बस इस भ्रमकी नींव पर ये सारी चेष्टाएँ, बोलचाल व्यवहार, मनमुटाव, पक्षपात, ईर्ष्या, घृणा, सारीकी सारी विडम्बनाएँ इस पर चल उठी हैं। ज्ञातापुरुष सर्वत्र इस चैतन्यस्वरूप का दर्शन करता है। वह गुणग्राही होता है, और देहोंमें आत्माका भ्रम करने वाले पुरुषोंको गुणसे तो प्रयोजन ही नहीं, बल्कि उनमें दोषग्राहिता का स्वभाव पड़ जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी प्रकृति—जगत्में जितने पुरुष हैं उनमें यदि दोष है तो कोई न कोई खास गुण भी है हर एक पुरुषमें। कोई कंजूस है तो प्यारा बोलने वाला भी है, कोई परनिन्दक है तो कोई किसीके सज्जनकी सेवा करने वाला भी है। कोई दोष है कोई गुण है। पर दोषग्राही पुरुष को वहां दोष ही दिखता है और गुणग्राही पुरुषको गुण ही दिखते हैं। जैसे जोंक भैंसके थनोंमें लग जाय तो जोंक दूध नहीं पी सकती। वह खून ही पियेगी। और हंस मिले हुए दूध और पानीमें दूधको ग्रहण कर लेगा पानी को छोड़ देगा। यह ज्ञान और अज्ञानमें ऐसी प्रकृति हो जाती है।

अज्ञानचेष्टाका अवबोध व अज्ञानचेष्टाके परिहारका यत्न— ज्ञानी पुरुष यह चिंतन कर रहा है कि पूर्वकालमें, जो अनन्तकाल हो गया है,

देहादिकमें आत्माका भ्रम करने से मेरी ऐसी चेष्टा हुई जैसे ठूठमें पुरुष का भ्रम हो जाय तो उस भ्रमीकी चेष्टा हो जाती है। क्या चेष्टा हो जाती है? किसीका उपकार करना, किसीका अपकार करना, किसीको अपना मानकर अपना सर्वस्व समर्पण करना, किसीको अपराधी जानकर दुःखी देखकर भी करुणा उत्पन्न न होना, ऐसी अजब चेष्टाएँ मिथ्यात्वमें हो जाया करती हैं। एक ही जीवनमें दसों बार ऐसे उतार चढ़ावके प्रसंग आ जाते हैं कि कभी वह इष्ट हो जाता है और कभी वह अनिष्ट हो जाता है। ऐसी चेष्टा इस देहमें आत्माका भ्रम करनेसे हो जाया करती है। ठीक है, किन्तु जब आत्मज्ञान हो जाता है तब यह पुरुष कैसा बर्ताव करने लगता है? इस सम्बन्धमें आचार्यदेव कह रहे हैं।

यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाऽचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥२२॥

यथार्थ ज्ञान होनेपर विपरीत चेष्टाका अभाव— जैसे वही पुरुष जिसको कि स्थाणुमें पुरुषका भ्रम हो गया था, कुछ और चलने पर जिज्ञासा सहित निरखने पर जैसे यह समझ आ गई कि यह तो कोरा ठूठ ही है, तो ऐसा जानकर अब उसकी वे सब विपरीत चेष्टाएं समाप्त हो जाती हैं, भय नहीं रहता, कुछ निःशंक हो जाता है। इस ही प्रकार जब देहमें आत्माका भ्रम समाप्त हो जाता है, आत्मस्वरूपमें ही यह मैं आत्मा हू ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है तो यह भी उन सब चेष्टावोंसे निवृत्त हो जाता है, ज्ञानरसका स्वाद लिया करता है।

ज्ञानमें अनाकुल दशा— भैया! ज्ञान हो जाने पर इस जीवनमें बड़ा अन्तर आ जाता है। आकुलता मूलमें नहीं रहती, विसम्वाद की स्थिति उस ज्ञाता पुरुषके नहीं रहती। चाहे संग वह ही हो, किन्तु यथार्थ बोध हो जाने पर फिर उसकी दशा ही बदल जाती है। जैसे रस्सीमें सांप का जिसे भ्रम हो जाय वह कुछ हिम्मत बनाकर निकट जाय और धीरे-धीरे समझमें आए कि यह तो साप नहीं मालूम होता है और बढ़कर देखता है—निर्णय हुआ कि यह तो रस्सी है। रस्सीका ज्ञान होने पर भय आकुलता, अधेरा ये सब समाप्त हो जाते हैं। ऐसे ही यह मैं आत्मज्ञानानन्द का पुञ्ज हूं। इसका कार्य ज्ञानरूप वर्तना और आनन्दरूप वर्तना है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर जो ससारके नाना कार्य भ्रमोंका बोझ लादे था वह सब समाप्त हो जाता है।

ज्ञानकिरण—इस अज्ञ पुरुषपर लौकिक कर्मोंका बड़ा बोझ लदा रहना है। अब यह काम करनेको पड़ा है, अमुक काम अभी अधूरा ही

है। इस तरहके बोझ चित्तमें रहा करते हैं। पर जब ज्ञानकिरणका उदय होता है और यह आत्मा समझ लेता है कि मैं तो अपने भावरूप परिणमन के अतिरिक्त अन्य कुछ करता भी नहीं हूं और न ही वह काम जिसे सोचा था या लोग सोचा करते हैं तो यह कभी अधूरा नहीं रहता। यह तो मैं परिपूर्ण सत् हूं—ऐसा अपना परिपूर्ण स्वभाव जो देखता है उस पर से सारे बोझ हट जाते हैं। हो तो कोई बुद्धिमान् विवेकी, सो जैसे मुफ्त मिले हुए धनकी व्यवस्था बिना भारके की जाती है ऐसी ही चेष्टा है उनकी। जो मेरे घरमें हैं, मिले हैं, ये भी मुफ्त मिले हुए की तरह हैं। हैं जड़ पुद्गल मुफ्त मिले हैं, मेरा उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। वे मेरी व्यवस्था नहीं बना देते हैं। ज्ञान होने पर दृष्टि उत्कृष्ट हितकी ओर ही जाती है।

अज्ञानमें विचार— एक बड़ा सेठ था किन्तु वह अकेला ही था। एक छोटा लड़का भर था। जब सेठजी के मरनेका समय आया तो सेठने सोचा कि इतने बड़े स्टेटकी रक्षा यह बालक न कर सकेगा, सो बराबरी के चार बिरादरी भाइयोंको बुलाया और उनको ट्रस्टी बना दिया, उनके नाम सब लिखा पढ़ी कर दिया। जब यह बालक बड़ा हो जाय तो इसको सारी सम्पत्ति सौंप देना। सेठ गुजर गया। बालक सड़क पर खेल रहा था। दो तीन वर्षकी अवस्था थी, अच्छे कुलका पुत्र था, अच्छे वातावरण में पला था, सुन्दर कलावान् था। खेल रहा था वह बालक। एक ठग सड़कसे निकला, उसे यह बालक सुहा गया और उसे उठा करके चल दिया। ठगनीसे कहा कि अपने घर बालक नहीं है सो इसकी रक्षा करो। यह अपना बालक है। पल पुसकर अब वह १७, १८ वर्षका हो गया। अब उस बालकको सही पता नहीं कि मेरा घर कौन था और क्या सम्पदा है? वह ठगको ही बाप समझता है और ठगनीको मां।

ज्ञानमें प्रकाश— एक बार वही बालक शहरसे निकला, तो एक ट्रस्टीने कुछ पहिचान लिया। ट्रस्टीने कहा ऐ बालक! हम लोग कब तक तुम्हारी जायदाद रखेंगे, तुम अपनी जायदाद ले लो। (कोई यह न सोच बैठे कि कहीं ऐसे ट्रस्टी हम न हुए)। दूसरा ट्रस्टी भी देखता है-कहता है-ऐ बालक तुम्हारी जायदाद हम कब तक रक्खेंगे, अब तुम अपनी जायदाद ले लो। इसी तरहसे तीसरे और चौथे ने कहा। तो बालक सोचता है कि ये दे ही तो रहे हैं कुछ लिए तो नहीं लेते। सो सोचकर उसने कहा— अच्छा हम १०-५ दिन बाद आपसे बात करेंगे। अब जंगलमें अपनी झोंपड़ीमें वह सोचता है कि मामला क्या है? अरे मेरा बाप यह है, मेरी

मां यह है और यह खेतीबाड़ी मेरी जायदाद है और वे बताते हैं दस बीस दुकानें, अमुक, अमुक। सो वह चिंतातुर था। जिज्ञासा का समाधान नहीं था, सो वह ठगनीके पैरोंमे पड़कर नम्र शब्दोंमें बोला कि मां बतावो मैं किसका बालक हूं ? इसे तुरन्त कह आया इस बालककी सरलता और मुद्राको देखकर कि बेटा तू अमुक सेठका बालक है। तू खेल रहा था सो ये तुम्हारे पिता जी तुम्हें उठा लाये, पाला पोसा। इतनी बात सुनते ही उसके यह निर्णय हो गया कि मैं अमुक शहरके अमुक सेठका लड़का हूं, अब इस निर्णयको कौन बदले ? फिर भी जब तक उस झोंपड़ीमे रह रहा है क्या उस ठगको ठग कहकर पुकारेगा, क्या उस ठगनीको ठगनी कहकर पुकारेगा ? नहीं। ठगनीको मां ही कहेगा, ठगको पिता ही कहेगा और खेतीबाडीको यदि कोई जानवर बरबाद करने को घुस जाय तो उसे भी वह बाहर निकालेगा। सब कुछ करेगा, पर अन्दरमें उसके पूरा ज्ञान है कि मैं तो अमुक सेठका लड़का हूं।

यथार्थ ज्ञान और व्यवहार— ऐसे ही यथार्थ ज्ञान हो जाने पर इस गृहस्थको भी व्यवहार करना पड़ रहा है सब कुछ, पर जान रहा है अन्तर में सब सत्य बात। मेरा वैभव तो मेरा गुणपुञ्ज है, मेरा पिता तो यह ही मेरा सत्स्वरूप है, सब कुछ समझ रहा है, फिर भी लोकव्यवहारके माता पिता वैभवको क्या गालिया देकर पुकारेगा ? तुम धोखे से भरे हो, मायारूप हो, असार हो। क्या ऐसा कहेगा ? ऐसा न कहेगा। वह मां को मां ही कहेगा, पिता ही कहेगा, धन वैभवका भी सचय करेगा, पर दृष्टि उसकी बदली हुई है। सो जब तक भ्रम था तब तक अन्य प्रकारकी चेष्टाएँ थीं, जब भ्रम हट जाता है तो विपरीत चेष्टाएँ दूर हो जाती हैं और आत्मतत्त्व के नातेसे उसकी चेष्टाएँ होने लगती हैं। ओह मैंने देहादिकमें आत्माका भ्रम करके ऐसी भ्रमपूर्ण चेष्टाएँ कीं। जैसे कि कोई ठूठको पुरुष जानकर, रस्सीको सांप जानकर उद्विग्न होकर नाना चेष्टाएँ किया करता है। ऐसा यह ज्ञानी आत्मज्ञान होने पर पूर्वकी अवस्थावोका ज्ञाता-द्रष्टा बन रहा है।

अज्ञ जन्तुकी विडम्बनायें— इस आत्माने स्व परके भेदविज्ञान बिना बाह्यतत्त्वोंको अपनाकर कैसे कैसे भव धारण किये और इनमें कैसी विडम्बनाएँ सहीं, सो कुछ साक्षात् और कुछ सिद्धान्तग्रन्थोंसे जान लीजिये। इस जीवका आदिनिवास साधारण वनस्पतिकाय रहा। जहां एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण किया। सुयोगसे उस देहकुलसे निकला तो पृथ्वी, पानी, आग, हवा और वनस्पतिकाय इनमें जन्म लिया, सो

आप सब देख ही रहे हैं। ये एकेन्द्रिय जीव हमारी ही तरह चैतन्यशक्ति वाले हैं और सुख दुःखके भोगने वाले हैं। इनके केवल एक ही इन्द्रिय है। इस कारण वे कुछ भी हलन चलन करके खुदको मना नहीं कर पाते। इस पृथ्वीके नीचे जितनी भी धातुयें हैं मिट्टी पत्थर आदिक हैं वे सब जीव है। इस मनुष्यने अपने प्रयोजनसे इस जमीनको खोदा और भीतरके पत्थरों को फोड़कर सुरंगें बनाईं और भी किस-किस तरह उन पृथ्वीकायिक जीवों का घात हुआ। वे सब वेदनाएं हम आप जीवोंने सही हैं।

असावधानीका फल— आज मनुष्यभवमें हैं, अपनी गत वेदनाओं का कुछ स्मरण नहीं करते हैं। पुण्योदयसे जो समागम मिला है उस समागममें मरत होते चले जा रहे हैं। कुछ ही दिन बाद सर्व समागम टेंगे, परभवमे यहा-का क्या साथ जायेगा इसका भी तो ख्याल करो। यह जो करनी है, जो भाव बनाया है भला अथवा बुरा, उनका ही फल अगले भवमें नजर आयेगा।

जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिके क्लेश— यह जीव कभी जलकायिक हुआ। जल जो पीनेमें आता है वह स्वयं एकेन्द्रिय जीव है। उसमें रहने वाले कीड़ोंकी बात नहीं कह रहे हैं। वह एकेन्द्रिय जल ताड़ा गया, रोका गया, तपाया गया, धोती चद्दरोंसे पिछाड़ा गया, वहा भी कितने कष्ट इस जीवने सहे? अग्निकायिक हुआ तो लोग अग्निको पानीसे बुझा देते हैं अथवा तवेसे बंद करके उसके प्राण नष्ट कर देते हैं। कई तरहसे इस अग्निका भी विध्वंस हुआ। वायुकायिक हुआ। यह अपनी चर्चा चल रही है। हम पहिले कैसी-कैसी योनिमें और देहमें पहुंचते रहे। हवा हुए तो रबड़ोंमें रोके गए अथवा जब चाहे पंखोसे ताड़े गए। वहां भी अनेक कष्ट सहे। हरी वनस्पतिकी तो बात ही क्या बताएँ? ये पेड़ पौधे फल फूल आदि सब एकेन्द्रिय जीव है। इनको तोड़ लिया, छेद डाला, भेद डाला, पका दिया, कितनी ही स्थितिया बनती हैं।

दो इन्द्रिय व तीन इन्द्रिय जीवके क्लेश— कदाचित् स्थावरोंसे निकला, दो इन्द्रिय जीव बना केचुवा, लट, जोक, सीपका कीड़ा, कौड़ोका कीड़ा आदिक दो इन्द्रिय जीव हुआ तो उनके दुःखका क्या ठिकाना? धीमर लोग मछली फांसने के लिए कांटेमे केचुवेको पिरो देते हैं, जलमे डाल देते हैं, मछलियां उन्हें खाती हैं, अथवा चलते फिरते मुसाफिर, कोई बिरले ही सत्पुरुष उन जीवोंपर दया करते हैं, कितने ही लोग जानबूझ कर जूतेकी नालोंसे मसलकर रौद्र आशय करके मौज मानते हैं। तीन इन्द्रिय जीव हुआ तो उसके दुःखका क्या ठिकाना? खटमल होते हैं खाटों

में तो लोग उनपर गरम पानी डालकर मार देते हैं, धूपमें खाटसे गिराकर तपी हुई धूलमें उन्हें झुलसा देते हैं। अथवा मिट्टीका तेल सन्दूक या आलमारी आदिमें डालकर उन खटमलोंको नष्ट कर देते हैं। ऐसी तीन-इन्द्रिय कीड़ा मकौड़ोंकी हालत होती है। एक निज ब्रह्मस्वरूपके परिचय बिना बाह्यपदार्थोंमें ममता होनेके कारण ऐसे-ऐसे भव इस जीवको धारण करने पड़े।

चौइन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीवोंके क्लेश-- कदाचित् तीन इन्द्रिय जीवसे और ऊंचा उद्धार हुआ तो चौइन्द्रिय जीव हो गया। मक्खी मच्छर टिड्डी, भंवरा, ततैया आदि चौइन्द्रिय जीव हैं। लोग ततैयाके घरोंको आग लगाकर जला देते हैं, ततैया जल जाती हैं, बच्चे किलबिलाकर मर जाते हैं। टिड्डी दलोंको नष्ट करनेकी कितनी ही औषधियां बनाई गई हैं। मच्छरों को मारने की कितनी ही औषधियां हैं। यह जीव चौइन्द्रियसे निकलकर पचेइन्द्रिय हुआ, तिर्यंच हुआ, तो वहांके कष्ट देखो गाय बैल बूढ़े हो जाते हैं तब उनकी कौन परवाह करता है? गधे कुत्ते सूकर इनकी कौन परवाह करता है? सूकरोंको तो लोग खड़े ही नष्ट कर देते हैं और कोई तो उनके पैर बांधकर जिन्दा ही बड़ी भट्टीमें डाल देते हैं। मुर्गा मुर्गियोंकी तो कथा सुनी ही होगी। पचेन्द्रिय जीवका भव पाया तो ये स्थितियां हुईं।

आप बीती कहानी--- भैया! कहां तक दर्दभरी कहानी सुनाई जाय जब हम दूसरोंको ऐसा हुआ करता है यों देखते है तो वह कहानी सुन ली जाती है और जब यह ख्याल होता है कि आखिर ऐसा ही भव हमने भी तो धारण किया और अब भी क्या हुआ, अब न सुधरे तो ऐसा ही भव हमें भी तो धारण करना पडेगा। ओह बड़ा विशाद होता है। आज इतना श्रेष्ठ मन पाया, अपने मनकी बात दूसरोंको बता सकते हैं, दूसरोंके मनकी बात हम समझ सकते हैं और बडे-बडे तत्त्वज्ञानकी बातें समझने के काबिल हैं, ऐसी ऊंची स्थिति पाकर भी विषयोंकी खाज खुजानेमें ही यह अमूल्य समय गुजारा तो बतलाओ अब कौनसा समय आयेगा जिसमें संकटों से छूटनेका मौका मिले। यह सब उस अज्ञानका परिणाम है जिस अज्ञानमें मनुष्य फूले नहीं समाते हैं। मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा वैभव, मेरा ऐश्वर्य, ओह कितना अद्भुत है, देख-देखकर फूले नहीं समाते हैं। ऐसा जो परिणाम है वह अज्ञान अंधेरेका परिणाम है। ऐसी मोह ममतामें निज ब्रह्मस्वरूपका क्या परिचय हो सकता है और अपने आपके स्वरूपकी यदि दृष्टि नहीं होती है तो वहां आकुलता ही बसी रहती है, वह ब्रह्मस्वरूप

क्या है, वह अतस्तत्त्व क्या है ? इस बातका वर्णन करने के लिए आचार्य-देव अगला श्लोक कह रहे हैं।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहु ॥२३॥

आत्मतत्त्व-- मै जो हूं वह किसी इन्द्रिय द्वारा जाननमे न आ सकने वाला हूं। इस इन्द्रियके बहुत भीतरकी जाननेकी तो बात तो क्या कहें, ये इन्द्रियां स्वयको भी नहीं जान पातीं। ये आंखे आंखोंको भी नही जान पातीं। यह रसना रसनाके रसको भी नही जान पाती। फिर यह अन्तरकी बातका तो पता क्या लगायें ? इनकी बहिर्भूत वृत्ति है। यह मैं आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपके द्वारा ही सम्वेदनमें आ सकने वाला हूं। जिस रूपसे मै अपने आपको अनुभवमे लेता हूं उस रूपका परिचय क्या बताया जाय ? लेकिन मोही जीव कहा करते हैं कि जगत्के प्राणी कोई स्त्री है, कोई पुरुष है, कोई नपुंसक है पर यह मै आत्मतत्त्व इन तीनों बातोंसे परे हू।

आत्माकी पुरुष स्त्री नपुंसक पर्यायसे रहितता-- जो पुरुष, पुरुष-शरीरमें रहकर अपनेको पुरुष, मर्द, मनुष्य मानते हैं वे अभी मोहमें पड़े हुए हैं। मैं पुरुष नहीं हू। जो जीव स्त्री शरीरमे रहकर अपने को स्त्री रूपमे मानते हैं उनका आत्मा अभी मोहमें पड़ा हुआ है। यह आत्मा स्त्री नहीं है। यों ही नपुंसक देह भी बहुत हैं। लगता है ऐसा कि नपुंसक तो थोडे हुआ करते हैं क्योंकि मनुष्योंमें दृष्टि डाल रहे हैं ना, या पशु पक्षियोंपर दृष्टि डाल रहे हैं, तो नपुंसक कहो, हिजड़ा कहो कितने इस जगत्में मिलते हैं ? पशु और पक्षियोंमे तो कभी देखनेको मिले ही नहीं। इससे कुछ ऐसा सोच रक्खा है कि नपुंसक थोड़े होते है। पर नपुंसक अनतानन्त हैं, पुरुष और स्त्री तो असंख्यात ही हैं पर नपुंसकोंका अंत नही आ सकता है इतने भरे पडे हुए है विश्वमें।, जितने एकेन्द्रिय जीव हैं, पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, हवा है, पेड़ हैं, निगोद हैं, ये क्या पुरुष हैं अथवा स्त्री हैं ? ये सब नपुंसक हैं। और वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त हैं। दो इन्द्रिय सब नपुंसक, तीन इन्द्रिय तथा चारइन्द्रिय नपुंसक, पंचेन्द्रिय मे भी नारकी चुकता नपुंसक और कुछ तिर्यञ्चोंमे और कुछ मनुष्योंमे नपुंसक होते है। ऐसे इस नपुंसकदेहको धारण करने वाला यह जीव अपनेको नपुंसकरूप अनुभव करता है, किन्तु यह आत्मा जैसे न पुरुष है, न स्त्री है, ऐसे ही नपुंसक भी नहीं है।

आत्मदयाका यत्न-- सब उपदेशोंमे प्रमुख बात यह है कि थोड़ी

अपने आप पर दया तो कीजिए। विषयोंमें, कषायोंमें, विकल्पोंमें, प्रवीणादमें, चिंतामें, शल्यमें बहुत बहुत अपने प्रभु को सताया, अब कुछ करुणा करके इतना तो देखो कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मुझमें तो शरीर भी नहीं है, मैं शरीरसे रहित हूं। जैसे मकानमें रहता हुआ पुरुष क्या अपने को मकानमय मान लेता है? नहीं। अरे उसका तो यह विश्वास है कि मैं मकानसे अलग हूं। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जिस देहमें रहता है, क्या अपने को देहरूप मानने लगता है? मै काला हूं, मै गोरा हूं, मैं लम्बा हूं, ठिगना हूं, क्या इन रूपोंमें ज्ञानी अपने को मानता है? देहमें बसता हुआ भी देहसे मैं अत्यन्त जुदा हू, यों ज्ञानी देखता है और उसके इस निरखनके क्षणमें उसे देहका भान भी नहीं रहता।

आत्मपरिचयका प्रसाद— भैया! बहुत बहुत बसे अब तक परतत्त्वोंमें, अब जरा सर्वविकल्पों को तोड़कर एक बार भी इस अपने सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव तो करिये। एक सेकेण्डकी भी यह कमाई अनन्तकाल तकके लिए संकटोंसे दूर कर देगी और आनन्दमय बना देगी। जब कि रात दिनके किए जाने वाले परपदार्थविषयक श्रम इस जीवको केवल क्लेशके ही कारण हुए। मैं क्या हूं—जब तक इसका निर्णय न होगा तब तक धर्म किया ही नहीं जा सकता। यों तो चन्द्रसूर्यके ग्रहणके समयमें छोटे लोग भी, भिखारीजन भी लोगोंको उपदेश दे जाते हैं—धर्म करो, धर्म करो, धर्म करो— उनकी दृष्टिमें पाव डेढ़ पाव अनाज का दान करना ही धर्म है। धर्मका स्वरूप कहीं बाहर रक्खा है क्या? धर्म किसी चोजके लेनदेनमें रक्खा है क्या? धर्ममय आत्मतत्त्वके जान लेने पर बाह्यपरिग्रहोंसे ममता हट जाती है और कोई सामने कार्य होने पर, धार्मिक प्रसग आने पर अथवा कोई परोपकारकी बात आने पर त्याग करते हुए विलम्ब नहीं लगता, पर धर्ममें उस परपदार्थको छोड़ना नहीं है, किन्तु उस परपदार्थमें ममताका न होना धर्म है। जिसके प्रतापसे परपदार्थोंका त्याग बन गया है।

आत्मानुभव धर्म— धर्म आत्माका स्वरूप है। आत्मा सब एक प्रकारके हैं। जब देह स्वयं आत्माका नहीं है तब उन आत्मावोंमें ऐसा भेदभाव निरखना जातिके नाम पर, सम्प्रदायके नाम पर, गोष्ठियोंके नाम पर तो ये भेदभावकी निरखन हैं, आत्मदर्शनमें बाधा देने वाली कड़ी दीवारें हैं। इस अपने आपको उस रूप अनुभव करें जिस रूप अनुभव करने में व्यक्ति भेददृष्टिमें, नहीं रहता न अपना पता रहता है, न अन्य जीव भी हैं, इस प्रकार पता रहता है। सबमें घुलमिलकर केवल चैतन्यस्वरूप मात्र

का अनुभव होता है। मैं क्या हूं—इसका निर्णय करने में आपका वर्षोंका समय गुजर जाय तो भी पहिले निर्णय कर लीजिए। धर्मपालनकी धुनि जिस रूपमे लोग कर रहे हैं दया करके इसे स्थगित कर दीजिए और पहिले 'मैं क्या हूं' इसका निर्णय बना लीजिए। प्रथम तो इसके यथार्थ निर्णयमें ही धर्म मिलेगा। और फिर धर्मकी प्रगतिके लिए जो कुछ कार्य करना होना होगा, वह सब क्षणमें हो जायेगा।

धर्मतत्त्वके स्वतः निर्णयका उपाय—कोई पुरुष यदि कुछ इस विसम्वादमें पड़ गया हो कि मै कहां जाऊं, सभी जगत्मे लोग अपनी-अपनी गा रहे हैं—यह धर्म है, यो करो, यो करो, किसकी माने? ऐसी स्थितिमें एक काम करना आवश्यक है। क्या? कि तुम किसी भी मत मानो, जिस कुल जिस मजहबमें उत्पन्न हुए हो, एक बार उसका भी सबकी तरह एक निषेध कोटिमें शामिल कर दो। यह मै आत्मा ज्ञानमय हूं ना, जाननहार हूं ना, जाननकी इसकी प्रकृति है ना, फिर मुझे क्या जरूरत है कि मै कोई सहारा तक कर उस सहारेकी रस्सीसे ही धर्मका निर्णय करने जाऊं? मुझे ज्ञात हो गया है कि मेरेको मेरेसे अतिरिक्त अन्य जितने भी चेतन अचेतन परिग्रह है, पदार्थ हैं ये मेरे नहीं है। इसका निर्णय तो प्राय· सबके है। एक यह पक्का विचार बना लीजिए किसी क्षण १०—५ सेकेण्डके लिए कि मुझे किसी भी अन्य पदार्थको अपने चित्तमे नहीं बसाना है, और मेरे ही घट-घटमें बसा हुआ प्रभु मुझे अपने आप जो निर्णय देगा बस वह तो मुझे मान्य है और किस-किसकी बातका सहारा तकूं? यदि सच्चाईके साथ सर्व बाह्यपदार्थोको अपने चित्तसे अलग कर दिया जाय और इस सत्यके आग्रहसे कि अपने आप मेरे घटमें जो दर्शन होगा वह मुझे प्रमाण है। मुझे नहीं कुछ सोचना है, नहीं कुछ बोलना है, नहीं कुछ चेष्टा करना है। मैं तो सर्वविकल्पोंको भुलाकर लो यहां बैठा हूं। ऐसी स्थिति हो कि किसी भी परपदार्थका संकल्प और विकल्प न रहे, सच जानो अन्तरके घटमें विराजमान ईश्वर सही रूपमें साक्षात् दर्शन देगा। और तब यह परिमाण हो जायेगा कि ओह इस प्रकारका विकल्प बनाना यह है धर्म।

विलीन संकल्पविकल्पजालता—धर्मकी स्थितिमे मुझे अनन्त आनन्द प्राप्त हुआ। मै जैसा चैतन्यस्वरूपसे हू और मैं जैसा अपने आप अपनेमें अपनी सी साधनासे अनुभव करता हूं वह मैं आत्मतत्त्व न मै पुरुष हूं, न स्त्री हू और न नपुंसक हूं और इतना ही नहीं, मैं बहुत भी नहीं हूं। मैं दो हूं क्या? दो भी मैं क्या-क्या मानूं? एक मैं हूं और एक

क्या इस सुगममें किसी द्वैतका प्रवेश नहीं है। यह मैं केवल हूं। अच्छा तो मैं दो न सही तो एक तो होऊंगा। अरे यह मैं एक भी नहीं हूं। मैं तो हूं एकका बुदबुदा, एकका तरंग। भेदभाव यहां नहीं उठ सकता। अनेककी दृष्टि आशयमें रक्खें तो एकका देखना बन सकता है। किसी टोकनीमें एक ही आम रक्खा हो और किसीसे कहें कि जरा देखना तो इस टोकरेमें कितने आम पड़े हैं? तो देखने वाला कहता है कि इसमें तो एक आम है, उसने कैसे जाना कि यह एक आम है। यह जानता है कि दो भी हुआ करते हैं, ४ भी होते, ५ भी होते, ५० भी होते, अनेक भी होते। यहां अनेक नहीं हैं इसलिए केवल यह एक है। यह मैं एक हूं ऐसा संकल्प विकल्प जाल भी जब विलीन हो जाता है ऐसे शुद्ध नयमें यह आत्मस्वरूप अनुभूत होता है। यह मैं न बहुत हूं, न दो हूं न एक हूं, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूं।

धर्मकी सुगम कला— भैया! कहां तो ऐसा शुद्ध आत्मस्वरूप और कहां रातदिन यह बसाये हुए हैं कि मैं तीन चार बच्चों वाला हूं। ओह कितना अन्तर है यथार्थ ज्ञानमें व अज्ञानमें? प्रकाशमें और अंधेरेमें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर ज्ञानी और अज्ञानीकी वृत्तिमें है। हे श्रेष्ठ मन वाले भव्य आत्मन्! जरासी सुगम कला है, आंखें बन्द किया, इन्द्रियोंका व्यापार रोका, किसी परका चिंतन न किया, क्षण भर विश्राम से बैठ गये कि उस आनन्दको भराता हुआ यह प्रभु अन्तरङ्गमें दर्शन देता है पर यह बात तभी सम्भव है जब हम मोह ममतासे कुछ गम खायें।

यथार्थस्वरूपके जाननेकी प्रेरणा— जीव आनन्दमय है फिर भी व्यर्थकी परेशानी लाद रक्खी है। है यह अकेला परिपूर्ण स्वतंत्र सारभूत उत्कृष्ट कृतार्थ लेकिन यह अपने स्वरूपको भूला हुआ है, जो अनहोनी बात है उसे होनीमें शामिल कर रहा है। कोई चेतन अचेतन पदार्थ मेरा नहीं हो सकता। भगवान् भी नहीं जान रहे हैं कि यह घर अमुक भक्तका, चंद का, दासका है, प्रसादका है किन्तु यह मोही छाती पीटकर कहता है कि यह घर मेरा है। यह इस जानकारीमें भगवानसे भी बढ़ा चढ़ा बननेकी कोशिश करता है। भगवान् तो सीधी सादी बात, पूरी-पूरी बात जानता है। धोखा, दगा, छल, कपट, अलायला वह भगवान् नहीं जानता, पर यह मोही जीव अनहोनी को भी होनी करनेका यत्न करता है। सोच लो जो बहुत बढ़कर चढ़ेगा वह ऐसा गिरेगा कि चिरकाल तक भी उसका उत्थान नहीं हो सकता। यह मैं चित्स्वरूप मात्र हूं, न पुरुष हूं, न स्त्री हूं न नपुंसक हूं, देहसे भिन्न ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानमात्र हूं यह बार-बार उपयोग

सहित भावना चले तो इस शुद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन हो सकता है।

मै आत्मतत्त्व क्या हू—इस सम्बन्धमें गत श्लोकमे वर्णन आया, उसही सम्बन्धमे यहां भी यह बता रहे हैं कि वह आत्मतत्त्व जो कि हमारे आपके लिए उपादेयभूत है और क्या-क्या विशेपताएं रखता है ?

यदभावे सुपुप्तोऽह यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्य तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

मै क्या हू — जिस शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति न होने पर मै मोह निद्रामे सो जाया करता हूं और जिस शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होने पर मै जाग जाया करता हूं, ऐसे अतीन्द्रिय अपने आपके द्वारा ही ज्ञानमें आने योग्य मैं आत्मतत्त्व हूं। अनादिकालसे बराबर इस जगत्के प्राणियों पर अज्ञान अंधकार छाया चला आ रहा है जिसमे इसने अपने आपके स्वरूपकी प्राप्ति नहीं की। जैसे जब घोर अंधियारा हो जाता है तो अपने ही हाथ पैर अग अपने को नहीं दिखते, फिर यह तो आत्माका अंधेरा है जिसमे आत्मस्वरूप कैसे दिखेगा ? जब नहीं दिखा आत्मतत्त्व तो यह मोह निद्रामे सो गया, अर्थात् पदार्थोंका यथार्थज्ञान न हो सका, हितके मार्गमें यह न चल सका, बेहोश खोया पड़ा है और जब इस जीवको अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी याद होती है, अनुभव होता है तब यह जागृत हो जाता है, सावधान हो जाता है। वस्तुस्वरूपको यथार्थ जानने लगता है।

सुप्तदशामें बन्ध— भैया ! आप लोग सोचते होंगे कि सोना है तो अच्छी चीज, मगर सो जाय तो फिर सो ही जाय जिन्दगी भर को तो फिर अच्छा रहेगा (हसी) और यह क्या कि ६ घंटेको नींद आयी, फिर जग गये। ऐसा सोना अच्छा होगा क्या ? सोनेमे जो कर्म बनते हैं, वे जागृत दशा की अपेक्षा भी ज्यादा बनते हैं। कोई तो यह जानते होंगे कि सो गये, वहां कुछ काम नहीं करते तो कर्मबध कम होता होगा। सोई हुई अवस्थामें भीतरमे जो सस्कार बसे हैं वे सब संस्कार बेलगाम भीतर ऊधम मचाते है। पर बेहोशी है इसलिए वह अनुभवमे नहीं आते और वहां बध बरावर चलता रहता है।

आत्माकी ज्ञानानन्दस्वरूपता— जैनसिद्धान्तमें आत्माको ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप माना है। जिन लोगोने इस ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप ही माना है अथवा इस ब्रह्मको आनन्दस्वरूप ही माना है, जरा उस मन्तव्यमे कल्पना तो कीजिए कि आनन्द बिना, ज्ञान क्या महत्त्व रखता है और ज्ञान बिना आनन्द क्या स्वरूप रखता है ? ज्ञान न हो और आनन्द ही आनन्द है वह आनन्द कैसा ? ज्ञानको छोड़कर

आनन्द नहीं रहता है और आनन्दको छोड़कर ज्ञान नहीं रहता। ज्ञाना-नन्दस्वरूप एक साथ एक आधारमें अमूर्त भावरूप शाश्वत रहा करता है। इसको लौकिक भाषामें कहा जाय तो आत्माका जगमग स्वरूप है। आज तो बड़ा जगमग हो रहा है। जगके बिना मग नहीं होता और मगके बिना जग नहीं होता। जगमग एक साथ चलता है। जग मायने ज्ञान और मग मायने आनन्द। मग्न हो गए, छक गए

आत्माका जगमगस्वरूप— जैसे बिजली या दीपक अपने प्रकाशका काम करता है तो वहां जगमग दोनो चलते हैं। लोग बोलते भी हैं कि यह दीपक जगमगा रहा है। उस जगमगका अर्थ है कि यह दीपक अपनेमें समाया हुआ रहता और बाहरमे उजेला देता हुआ रहता है। इसमें दोनों काम चल रहे हैं। कभी-कभी तो यह बात समझमें भी आती है कि देखो अब यह दीपक अपनी ओर सिकुड़ा और अब यह दीपक बाहरमे प्रकाश फैलानेके लिए हुआ। खूब सूक्ष्म दृष्टि करके देखो तो दीपकमे जगमग दोनों बातें पायी जाती हैं—इसी तरह आत्मामें जगमग दोनों बातें हैं—ज्ञान और आनन्द। प्रभुका स्वरूप जब बखानते है तो कहते हैं ना—सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्दरसलीन। प्रभु सकल ज्ञेयके ज्ञायक हैं, यह तो है जगका स्वरूप और अपने आनन्दरसमें लीन हैं यह है मगका स्वरूप। ऐसा जगमग स्वरूप प्रभु अपना विकास बनाए हुए है। इस आत्मतत्त्वका यह स्वभाव है।

आत्मपरिचय बिना मुग्ध बुद्धि— जगमगरूप चैतन्यचमत्कारमात्र अंत चकचकायमान् प्रकाशमय आत्मतत्त्वका जब परिचय नहीं होता तो यह प्राणी मोह नींदमें ज्ञेयासक्त हो रहा है। यह मेरा है यह फलांका है, यह बड़ा है, इसकी रक्षा करना है, उसमें बड़प्पन मानते हैं। हैं कुछ नहीं, जंजाल बढ़ गए। विकल्पोंमें पड़ा है, तो क्या यह कम संकट माना जायेगा? सोया हुआ है, अपना चेतन ही है, परिपूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मतत्त्व हू—ऐसा उसे स्मरण भी नहीं है। जिसके अभावमें यह आत्मा सो जाता है अर्थात् बेखबर हो जाता है वह मैं आत्मतत्त्व हू और जिसकी दृष्टि होने पर यह आत्मा जग जाता है, सावधान हो जाता है वह मैं आत्मतत्त्व हूं।

आत्माकी अतीन्द्रियता— यह मैं आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय हू, इसमें इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात भी नहीं होता। भावेन्द्रियरूप खण्ड-ज्ञान भी इसमे नहीं है। यह मै शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं, अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूं। इस आत्मतत्त्वके बतानेमें बड़ी हैरानी होती है क्योंकि यह अनिर्देश्य है।

इन्द्रियसे जान ली जाने वाली बात हो तो कुछ जोर चतावें कि जान जाये इसे। पर यह आत्मतत्त्व तो अनिर्देश्य हैं, किसी भी उपायसे निर्देशमे में नही आ सकता।

इन्द्रियज निश्चत ज्ञान— कोई कहे आग गरम है। अजी हम नहीं मानते, आग तो ठंडी है, पानी भी ठंडा होता है, वह भी पुद्गल है, आग भी पुद्गल है, वह भी ठंडी होती है। अजी नहीं, देखो वह रक्खी है आग, वह तो गरम है। हम नहीं मानते। तब क्या करो कि ज्यादा झगड़ा उससे न मचाओ, चिमटे में आग पकड़ो और उस निषेधक का हाथ खोल कर धर दो। वह समझ जायगा— अरे! रे रे यह तो गरम है। ऐसी ही रसना की गत है, अमुक चीज कड़ुवी है, अजी कड़ुवी नहीं है, खिलाना नही चाहते इसलिए बता रहे हो कि कड़वी है, अरे! तो जीभ पर धर दो, अभी कह देगा कि यह बड़ी कड़वी है। तो इन्द्रियसे परखी जाने वाली कोई बात हो तो उसे जोर देकर समझाया जाय।

इन्द्रियज ज्ञान व अतीन्द्रिय ज्ञानमे अन्तर— भैया! जैसा हम जानते है वैसा भगवान् नहीं जानते और जैसा भगवान् जानते वैसा हम नहीं जानते। तो हमारा जानना सच्चा कि भगवान् का जानना सच्चा? श्रद्धा है ना इसलिए यह कह देंगे कि भगवान्का जानना सच्चा, पर चित्त मे यह बात बैठी है कि जो हम जानते हैं सो ही सच है। यह खण्डज्ञान है, पर्यायज्ञान है, मायारूप ज्ञान है, यह सब इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होता है। प्रभु इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता। यह आत्मतत्त्व अनिर्देश्य है। इन्द्रियकी बात क्या कही जाय? झूठ भी हो सकती है। लोग कानों सुनी बातको झूठ बनाते हैं। अजी यह कानों सुनी या आंखों देखी बात है? हमने तो कानो सुनी है, अरे! तो इसका क्या विश्वास? आंखों देखा हो तो बतावो। तो कानों सुनी बातको लोग झूठ मानते हैं और आखों देखी बातको लोग सच मानते हैं। पर, कोई-कोई बात आंखों देखी भी तो झूठ हो सकती है। अच्छा बतावो आसमानमे जो तारे दिखते है वे कितने बड़े हैं? तो यही बतावेंगे कि जो कांचकी गोलियां होती हैं ना खेलनेकी उससे भी छोटे, किन्तु हैं वे कमसे कम तीन कोसके। ज्यादा के कितने ही हों।

चाक्षुषज्ञानसे भी असत्यताकी संभावना— एक कथानक है। राजा का नौकर राजाका पलग सजाता था, बड़ा कोमल छिमगंदार था और उस पर गद्दा पड़ा था। बड़ा कोमल गद्दा था। एक दिन सोचा कि इस पर राजा लेटता है, मैं भी तो जरा दो मिनटको देख लू, कैसा गुदगुदा है, सो वह नौकर चादर तान कर दो मिनटको लेटा कि उसको नींद आ

गयी। अब रानी आयी, सो जाना कि रोजकी तरह राजा हैं, सो वह भी चादर तान कर लेट गयी। दोनोंको नींद आ गयी। राजा आया तो देखा कि यह क्या मामला है? सोचा कि दोनोंका सिर उड़ा दूं। ध्यानमें आया कि किसी सन्तने बताया था कि कानों सुनी भी झूठ हो सकती है, आखों देखी भी झूठ हो सकती है। तो पहिले रानीको जगाया। सो यह मामला देखकर रानी बड़े अचरजमें पड़ गयी कि यह क्या मामला है? मैं तो जानती थी कि आप हैं। और जब नौकरको उठाया तो बेचारा डरके मारे कांपे। उसे यह लगा कि मैं राजा के पलंग पर सो गया। पलंग पर सोनेका मैंने बड़ा अपराध किया। सच बात जानने पर राजा समझ गया कि ठीक है।

युक्तिमत् ज्ञान और अनुभवमें विशेषता— अच्छा तो युक्ति पर उतरी हुई बात सही होगी क्या? कानूनमें आयी हुई बात सही होगी क्या? तो कानूनकी बात भी झूठ हो सकती है। राजाके पास दो सौतों का न्याय आया, एकके लडका था और एकके न था। उसने दावा कर दिया कि यह लड़का मेरा है। वकील दोनों जगहके आए। युक्ति बताई कि पतिकी सम्पत्ति पर स्त्रीको पूरा अधिकार होता है कि नहीं? दोनोंका होता है, तो यह लड़का पिताका भी है, इसका भी है। तो घर, धन वैभव, सब पर स्त्रीका अधिकार होता है या नहीं? होता है ठीक है। अब राजा सोचमें पड़ गया कि क्या न्याय करे? लडका तो एक ही का होगा। उसे युक्ति समझमें आयी। उसने शस्त्रधारी पहरेदारोंको बुलाया, और कहा कि देखो यह लडका इस स्त्रीका भी है और इस स्त्रीका भी है सो इस लड़केके ठीक बराबरके दो हिस्से करो। एक टुकड़ा इसे दे दो और एक टुकड़ा इसे दे दो। तो जिसका लड़का था वह कहती है— महाराज मेरा लड़का नहीं है, यह तो इसका ही है, पूराका पूरा इसको दे दो। और जिसका लड़का नहीं था, वह खुश हो रही थी कि आज अच्छा न्याय बन गया, मरने दो दुसरेको। तो यहां कानूनने काम नहीं दिया, यहां तो अनुभवने काम दिया।

आत्माकी स्वसंवेद्यता— राजाने निर्णय दिया कि जो मना करती है उसका लड़का है, उसे दिला दिया। तो इन्द्रियों द्वारा जानी हुई बात भी यथार्थ नहीं होती, और प्रभु तो जानता ही नहीं है इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य चीजोंको, क्योंकि वे सत् स्वरूप नहीं हैं, मायारूप है। वह असत्को नहीं जानता। सो ऐसा ही यह मैं आत्मतत्त्व अनिर्देश्य हूं और अपने आपके ज्ञान द्वारा अपने ही ज्ञानमें सम्वेदन करने योग्य हूं, ऐसा

यह मैं आत्मतत्त्व हूं, जिसकी सुध आने पर अन्तर्जल्प और वहिर्जल्प दोनों प्रकारके ऊधम छूट जाते हैं और आनन्दका अनुभव होता है।

स्वसंम्वेदनमें व्यक्त आत्मतत्त्व— यह मै आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय हूं, इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं हूं, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियसे रहित हूं और इसी कारण अनिर्देश्य हू, किसी चिन्हके द्वारा मैं निर्देश किया जाने योग्य नहीं हूं। ऐसे वर्णनको सुनकर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि तब क्या मैं किसी प्रकार ज्ञानमें आ ही नहीं सकता ? इसका समाधान स्वसम्वेद्य शब्दमे दिया गया है। मै आत्मा ज्ञानमय हूं और ज्ञानका ही काम करता हूं और इस ज्ञानमय निजको ही जानना है तो इस ज्ञानस्वरूपको जाननेका साधन अन्य तत्त्व नहीं हो सकता है। मैं अपने आपके ही द्वारा स्वसम्वेदन किया जाने योग्य हूं। ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व गुप्त अंतःप्रकाशमान् हूं। जिसने देखा उसको व्यक्त और अज्ञानी को अव्यक्त, ऐसा स्वरूपास्तित्त्व मात्र चित् स्वरूप हू। यहा तक आत्मस्वरूपका वर्णन बहुत कुछ किया गया है। इसके पश्चात् अब यह बतला रहे हैं कि आत्मस्वरूप का जो अनुभव कर लेता है ऐसे आत्मामें रागद्वेपादिक दोप नहीं रहते और इसी कारण उसकी दृष्टिमे शत्रु और मित्रकी कल्पना नहीं रहती है।

> क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मा प्रपश्यतः।
> बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रु र्न च प्रियः ॥२५॥

आत्मदर्शनसे रागादिकका क्षय— परमार्थतः अपने आपको देखने वाले इस मुझ आत्मामे रागादिक दोप तो नष्ट सुगम ही हो जाते हैं, क्यों कि आत्मतत्त्व को देखा जाने पर यह अनुभव किया गया कि यह मैं ज्ञानमात्र हू। ज्ञान जैसे कि अमूर्त भाव है तो ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है। वह भी अमूर्त है। ऐसे अमूर्त ज्ञानभावमात्र अपने आपके स्वरूपको जिसने निरखा है ऐसे ज्ञानी संतके ये रागद्वेपादिक विकारभाव यों ही विलीन हो जाते हैं। रागको मिटाने का वास्तविक उपाय बाह्यपदार्थोंका संग्रह विग्रह अथवा कुछ परिणमन कर देना, हो जाना यह नहीं है। रागका अर्थ है परवस्तु सुहा गई और राग मिटनेका अर्थ है कि परवस्तुमें सुहा गई ऐसी स्थिति हो न हो। वह स्थिति अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने से प्राप्त होती है। मैं ज्ञानमात्र हूं। जहां जाना कि यह मैं केवल जाननहार हूं, अन्य इसमें रुचि होना मेरा स्वरूप नहीं है, तब वह रागद्वेपको क्यों अपनायगा ? परमार्थ निजस्वरूपको देखने पर रागद्वेप नहीं ठहरते हैं।

रागादिकके क्षयसे शत्रुत्व, मित्रत्वकी कल्पनाका अभाव— देखो !

ये रागद्वेष जीते जाने बड़े कठिन मालूम होते हैं। और ये इसलिए कठिन हैं कि इस जीवपर अज्ञान छाया है। शरीरको ही माना कि यह मैं आत्मा हूं। सो शरीरको आराम चाहिए, शरीर की खुदगर्जी चाहिए, सब कुछ ऐसा है इस मोही जीवने शरीरको। अतः वह इस शरीरको अहित जान कर, विनाशीक जानकर परोपकारमें इसे लगाया जाय ऐसी बुद्धि नहीं करता है। अपनी इन्द्रियपोषणके लिए और अपने आरामके लिए इसका मन बना रहा करता है। ऐसा विषयाभिलाषी, शरीरमें आत्मबुद्धि रखने वाला व्यामोही पुरुष रागद्वेषका कहांसे क्षय करेगा? वस्तुतः अपना ज्ञान-मात्र स्वरूप अनुभवमें आने पर वहां रागद्वेष रहा ही नहीं करते हैं, और जब रागद्वेष क्षीण हो जाते हैं तो वहां फिर कौन शत्रु है, कौन मित्र है? न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है।

मुग्ध बुद्धि— जब तक यह पुरुष अपना स्वाभाविक निराकुलतारूप स्वभावका अनुभव नहीं करता तब तक ही इसकी बाह्यपदार्थोंमें इष्ट बुद्धि व अनिष्ट बुद्धि होती है। और जिन्होंने परमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि की सो वे लोग परके लिए चिंतित रहा करते हैं। जो संयोग वियोगमें साधक हैं उन्हें इष्ट मित्र मान लेते हैं और जो बाधक हैं उन्हें शत्रु मान लेते हैं। परन्तु स्वरूप दृष्टिको देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि मुझसे सभी अत्यन्त जुदे हैं, फिर भी उन्हें अपनानेकी बुद्धि इस मोहीमें पड़ी हुई है। जिस देहके साथ मेरा एक क्षेत्राकार सम्बन्ध बन रहा है, जब मैं उस देहसे भी पृथक् हूं तो प्रकट पराया जो चेतन और अचेतन परिग्रह है वह मेरा कहां से हो सकेगा? यह आत्मा पक्षीकी तरह उड़ता फिर रहा है। आज मनुष्य भवमें है, कल इस भवको भी छोड़कर अन्य भवमें पहुंचेगा, फिर इस भव का समागम यहां का यह सब परिकर जो रागवश इकट्ठा किया है, क्या कुछ साथ देगा? ओह इस मोही जीवके शरीरमें कैसे दृढ़ आत्मबुद्धि है कि यह आराम चाहता है, साथ ही अपने नामकी कीर्ति भी चाहता है। सारे जीवन भर यश और कीर्तिके कार्यमें लगा रहे और अंतमें गुजर गया तो यहांका क्या कुछ साथ होगा? नहीं, फिर भी यह मोही जीव अपने आपकी विकारमुग्ध बुद्धिसे अपने आपको सताये जा रहा है। शुद्ध आनन्दका अनुभव कर सकने योग्य नहीं है।

आत्मामें मित्रत्व शत्रुत्वका अभाव— शत्रु मित्र किसी जीवसे बंधे हुए नहीं हैं। अमुक जीव मेरा मित्र ही तो है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। आज विषयसाधनमें साधक निमित्त हो रहा है, तो उसे मित्र मान रहे हैं। इस ही जीवनमें ही लो, विषयसाधक न रह सके तो वह शत्रु बन जाता

है। ऐसे अनेक उदाहरण आपको मिलेंगे। जिनका पहिले बड़ा दोस्ताना था कोई साधारण कारण पाकर वे एक दूसरेके प्रबल शत्रु हो जाते हैं। और अभी कहो किसीसे शत्रुता हो, एक दूसरेको देखना भी न पसंद करे फिर भी विषयोंकी साधकता होने पर प्रिय मित्र बन जाता है तब शत्रु और मित्र होना यह कुछ द्रव्यमे रहने वाली बात नहीं है, यह तो हमारी कल्पनाके आधीन बात है।

देवरति राजाकी आसक्ति—एक बडी प्रसिद्ध कथा है। देवरति राजा था। उसकी स्त्रीका नाम रक्ता था। राजाको रानी पर अत्यन्त अनुराग था, जिसकी पूर्तिमें वह राज्यको भी नहीं संभाल पाता था। तो प्रजाजनों ने, मंत्रियोने एकचित्त होकर राजासे कहा कि महाराज या तो आप राज्य भार छोड़ दीजिए, हम मत्रीगण राज्य करेंगे और आप अपनी रानी सहित रहिए या फिर राज्यभारको विधिवत् संभालिए। तो रानीके अनुरागके वश राजाने राज्यभार छोड़ दिया और रानीको साथ लेकर राज्यसे बाहर निकल गया। राज्यके बाहर किसी शहरके निकट ठहर गया। राजा तो भोजन सामग्री लेने गया और यहां रानीका क्या हाल होता है कि उस जगह कुयें पर एक कूवड़ा चरस हांक रहा था और चरस हांकते हुएमें सुरीला संगीत गा रहा था। आवाज बड़ी अच्छी थी, सो उस संगीतको रानीने बहुत पसंद किया और उस कूबडेके पास आकर बोली कि हम तुम्हें अपना मालिक बनाना चाहती हैं या अन्य अन्य बाते कही। तो कूबड़ा कपक बोलता है कि तुम बडे राजाकी महारानी और हम कूबड़े का क्या हाल होगा, राजा तो दोनोंके प्राण नष्ट कर देगा। तो रानी बोली कि यह इलाज तो हम कर लेंगी।

रक्ता रानीकी अनुचित वृत्ति—अब उस रक्ता रानीने क्या किया इलाज? जब राजा आया तो रानी उदासचित्त बैठ गयी। राजा कहता है कि तुम्हारी प्रसन्नताके लिए हम राज्यभार छोड़कर जंगलकी खाक छानते फिर रहे हैं, फिर भी तुम उदास हो, यह उदासी मैं नहीं देख सकता हू। इस उदासीनता कारण बतावो। रानी कहती है कि कलके दिन तुम्हारा जन्मदिवस है, जन्मदिवस भी भाग्यसे आ गया था। यदि राजमहलमें होती तो सिंहासन पर आपको बिठाकर आपका स्वागत करती। अब जंगलमे हम आपका कैसे स्वागत करे? तो राजा बोला कि यहां भी तुम जैसी उत्तम विधि बना सको, बनावो। रानी बोली कि आप जंगलसे बहुत से फूल लावो, डोरा लावो, हम माला बनायेंगी। राजा ने फूल ला दिया। रानी ने मजबूत धागे से दस दस, बीस-बीस हाथकी लम्बी कई मालाएँ

बनाई। और कहा--महाराज यहां महल तो नहीं है पर यह पर्वत है, इसके शिखर पर चलो, उस शिखर पर आपको विराजमान कर आपका स्वागत करूँगी। राजा उस चोटी पर पहुंचा। रानी ने उन मालाओं से राजाको कसकर बाध दिया और एक जोरका धक्का लगाया, सो लुढ़कता लुढ़कता राजा नदीमें जा गिरा और बहकर दूसरे राज्यके किनारे पहुंच गया।

भाग्यका कदम— भैया! भाग्यकी बात कि उस राज्यमें राजा गुजर गया था, उसके कोई संतान उत्तराधिकारी न था। मंत्रियोंने यह विचार किया कि यह गजराज जिसके गलेमें माला डालेगा और अपनी सूंडसे उठाकर अपने मस्तक पर बैठा लेगा उसे राजा बनाया जायेगा। गजराज को छोड़ दिया। वह हाथी घूमते-घूमते उसी जगह पहुंच जाता है जहां यह देवरति राजा किनारे लगा हुआ था भूखा प्यासा। गजराज ने उस पर माला डाली और अपने सिर पर सूंडसे उठा लिया। वह देवरति फिर राजा बन गया।

रक्ताकी अनुचित वृत्तिका परिणाम— यहां रक्ताका क्या हाल हुआ कि एक टोकरीमें उस कुबड़े को रखकर और अपने सिर पर लाद कर यत्र तत्र डोलने लगी। वह गाये और रक्ता रानी नाचे। इस नाचने और गानेके एवजमें जो कुछ मिल जाय उसीसे दोनोंका पेट पलता। वह रक्ता रानी यों डोलते डोलते उस दूसरे नगरमें भी पहुंच जाती है जहां देवरति राजा बन गया था। खबर पहुंची कि एक पतिव्रता नार आई है जो अपने पतिको हमेशा सिर पर रक्खे रहती है, पति गाता है और पत्नी नाचती है। उसे राज दरबारमें बुलाया गया, देवरति राजाको सन्देह हुआ कि यह वही रानी है जिसके अनुरागमें मैंने राज काज छोड़ा था और जिसने हमें पर्वतसे ढकेला था। वह विरक्त हो गया।

प्रयोजन यह है कि एक बात नहीं, अनेक दृष्टान्त ऐसे हैं जिनसे यह विदित होता है कि शत्रु मित्र कोई पेटेन्ट नहीं हैं। पुरुष भी जब जब अपने विषय साधनोंके योग्य स्त्रीको नहीं समझते हैं तो उसे कष्ट देते हैं, उपेक्षा कर देते हैं। तो यह ऐसा जगत् है। यहां किस जीव को तो शत्रु कहा जाय और किसको मित्र कहा जाय? कोई जीवमें नाम खुदा है क्या? हम ही अपनी कल्पनामे जिसे विषयसाधक मानते हैं उसे मित्र समझते हैं और जिसे बाधक मानते हैं उसे शत्रु समझने लगते हैं।

आत्मतत्त्वकी परिपूर्णता— यह मैं आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप हूं। इसमें ज्ञान प्रकाश है और आनन्दका अनुभव है। इसमें ज्ञानानन्दस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भाव, परतत्त्व मुझमें नहीं हैं। ऐसें अपने आपके

अनुभवने वाले ज्ञानी सन्तके रागादिक भाव क्षयको प्राप्त हो जाते है। जगत्में क्लेश ही रागद्वेष मोहका है। जीव तो स्वतन्त्र हैं, अपने स्वरूप-रूप है, परिपूर्ण है। जो बात इसमें नहीं है वह बात कभी बाहरसे आ नहीं सकती। जो बात इसमें है वह इससे कभी छूट नही सकती है। ऐसी दृढ़ता केवल आत्मतत्त्वकी ही नहीं है किन्तु समग्र सर्वपदार्थोंमें ऐसी दृढ़ता है कि वह अपने स्वरूपको छोड़ता नहीं है, और पररूपको ग्रहण करता नही है। जब ऐसा अव्याबाध मेरा स्वरूप है तब किसका भय है? कौनसी शंका है?

ज्ञानी गृहस्थका परमार्थ और व्यवहार—भैया! पर्यायका कर्तव्य और आत्मतत्त्वके नाते ये दोनों अलग-अलग हैं। और इसमे परस्पर झमेला भी चला करता है, पर यह सत् पुरुष कभी व्यवहारकी बातको निभाता है और कभी परमात्मतत्त्वका अनुभव करता है। जैसे आज यहां हैं, मरण करके किसी अन्य देशमें पहुंचे तो मेरे लिये यह देश क्या रहा? आज जिस कुटुम्बमे है उसका राग करते है। और मरण करके किसी अन्य जगहमें पहुंचे तो यहांके कुटुम्बका राग फिर कहां मिलेगा? बल्कि जहां पहुंचे उसका पक्ष रहेगा, और उसके मुकाबलेमे इस पूर्वभवके कुटुम्ब से द्वेष रक्खेंगे। जैसे आज यहां इस देशमें हैं, भारतवर्षमें हैं और यहासे मरण करके भारतके शत्रु देशमे जन्म ले लिया तो उसके लिए फिर उस नये देशसे अनुराग हो जायगा और भारतवर्षसे शत्रुता हो जायगी। पर-मार्थ दृष्टिसे देखो तो यह बात है और व्यवहारदृष्टिसे देखो तो क्या राष्ट्र प्रेम न रखना चाहिए? क्या राष्ट्रआक्रमण ही प्रिय है? फिर गुजारा कैसे होगा? यह एक लौकिक बात है। ज्ञानी सन्त पुरुष इन दोनों ही बातों को निभा लेते हैं, और जब जो करने योग्य है वह सब इसमे हो जाता है। यह सब आत्मतत्त्वके प्रसादका प्रताप है। परमार्थ और व्यवहार दोनो बातों में ज्ञानी सन्त पुरुष परमार्थकी बात प्रमुख रखते हैं और पदानुसार करते हैं परमार्थ और व्यवहार दोनों ही बातो को।

आत्मामें भवकी उलझन और सुलझन— यह समाधितन्त्र ग्रन्थ है। इसमे समाधिके उपाय बताये जा रहे हैं। मैं केवल भावना ही कर सकता हूं, अन्य पदार्थोंमें, मैं कुछ भी परिणमन नहीं कर सकता हूं, तब भाव ही तो बनाया है। मै अन्तरमे ही बसा बसा केवल भाव किया करता हूं, कल्पनाएं बनाया करता हूं, अन्य पदार्थोंका कुछ नहीं करता हूं। ऐसी स्थितिमें इसको रागद्वेष करनेका अवसर कहांसे आयगा? यह तो जानता है कि मेरा किसीने कुछ सुधार बिगाड़ नहीं किया। यह मैं अपने आप

ही अपनी प्रज्ञासे कभी उलझ जाता हूं तो कभी सुलझ जाता हूं। जैसे मन्दिरके शिखर पर लगी हुई ध्वजामें ध्वजाके ही कारण कभी डंडेमें पूरा लिपट जाता है और कभी उस डंडेसे छूट कर फहराने लगता है। उस जगह उस ध्वजाको उलझाने वाला कौन है ? और सुलझाने वाला कौन है ? उस हवाकी प्रेरणा पाकर यह ध्वजा अपने आपमें ही उलझ जाता है और अपने आपमें ही सुलझ जाता है। ऐसे ही इस आत्माको उलझाने वाला कौन दूसरा है, और सुलझाने वाला भी कौन दूसरा है ? यह अपने ही स्वरूपसे उलझ जाता है और अपने ही प्रज्ञाबलसे सुलझ जाना है। कितनी सुगम यह कला है, आराम विश्रामसे रहकर अपने आपमें ही रहकर अन्तरमें कुछ भावना बनाता है। उस भावनाके प्रसाद से जो कुछ निरन्तर होने योग्य है वह होने लगता है और जो नहीं होने योग्य है वह सब छूट जाता है।

ज्ञानप्रकाश— भैया ! आत्माकी ऐसी बड़ी निधिको प्राप्त करनेके लिए परपदार्थकी अणुमात्र भी आवश्यकता नहीं है किन्तु विश्वासकी दृढ़ताकी आवश्यकता है। जिसका विश्वास दृढ नहीं है, पौरुष नहीं बनता है वह सदा कल्पना बना बनाकर दुःखी रहा करता है। मैं ज्ञान मात्र आत्मतत्त्व हूं और मात्र ज्ञान द्वारा ही अपने आपका अनुभवन करने वाला हूं, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व अपने आपमें अपने आपका अनुभवन करता हुआ मोक्ष मार्गमें कदम बढ़ाऊं। परमार्थसे ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्माको मैंने देख लिया तो वहां रागादिक भाव ठहरते नहीं हैं, क्षयको प्राप्त हो जाते हैं, और जब रागादिक न रहे तो शत्रु और मित्रताकी कल्पनाएं सब समाप्त हो जाती हैं। किसीको अपने घरके कुटुम्बीसे उतना अनुराग नहीं होता जितना कि अन्य पुरुषसे, अन्य ग्राममें रहने वाले पुरुषसे अनुराग अधिक बन जाता है। यह सब आत्मामें आत्मीयता का ही सौदा है। कोई जबरदस्ती बनानेसे यह बात नहीं बना करती है। मैं स्वयं सहज ज्ञानस्वरूप हूं, इसमें तो क्लेशकी गुन्जाइश भी नहीं है। राग और द्वेष का वहां पर स्थान भी नहीं है।

आत्मयत्न— भैया ! अब मोहकी नींद छोड़ें, आत्मतत्त्वमें स्थिर होनेका यत्न करें, क्योंकि समय बड़ी तेजीसे बीता जा रहा है, किसी परतत्त्वको अपने उपयोगमें ले लेने से हम कौनसी महिमा पा सकेंगे ? यहां तो सारा न्याय न्यायसे हुआ करता है। जैसा अन्तरमें परिणाम है, वैसा ही परिणमन प्रवर्तन और फल आगे प्राप्त हो जाता है। मैं सर्व कर्म और कर्मफलोंसे दूर हूं, ऐसा आत्मानुभव करने वाले पुरुषके ये दो बातें हो

जाती हैं। एक तो रागादिक भावोंका विनाश और दूसरे पर जीवोंमें शत्रु और मित्रकी कल्पनाका अभाव। ये दो बातें जहां प्रकट हुई हैं वहां सहज ही आनन्द-जग रहा है। किसी से उस आनन्दके पूछने की आवश्यकता नहीं है। हमारा कर्तव्य है कि हम कुछ क्षण तो सर्व पदार्थोंका ख्याल छोड़ कर निर्विकल्प अखण्ड सहज ज्ञानस्वरूपके अनुभवनमें लगें, यही मात्र अनुभव ही इस संसारके समस्त संकटोंसे पार कर सकता है।

मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२६॥

मेरे परिचित और अपरिचित सब जीवोंमें शत्रुत्व व मित्रत्वका अभाव— यह लोक, जिसके प्रति अज्ञानी जनोंकी शत्रु या मित्र रूपमें देखनेकी वासना रहती है, यह लोक क्या मुझे जानता है? यह जो मैं ज्ञानस्वरूप मात्र अमूर्त आत्मतत्त्व हूं, जिसका न देहसे सम्बन्ध है न देश से सम्बन्ध है ऐसा यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व क्या इस लोकके द्वारा देख लिया गया हू या नहीं देखा गया हूं। यदि ये मनुष्य मुझ आत्माको देखने वाले हैं याने पहिचानने वाले हैं तो वे मेरे शत्रु और मित्र हो ही नहीं सकते, क्योंकि उन्होंने ज्ञानस्वरूप मुझ आत्माको ज्ञानस्वरूपके रूपमें ही देखा है। उनके उपयोगमें रागद्वेपकी तरंगें उठ ही नहीं सकती। फिर वे मेरे शत्रु कैसे और मित्र कैसे तथा यदि उन्होंने मुझे नहीं देखा है तो जिन्होंने देखा ही नहीं है वे मेरे कैसे शत्रु और कैसे मित्र होंगे।

उन्मत्तवृत्ति— सारे विकार, समस्त अवगुण, सकल विडम्बनाएँ एक आत्माके स्वरूपके अपरिचयमें ही हैं। जैसे पागल अपनी धुनमें लत्तों और कागजोंको संचित करता फाड़ता रहता है, कुछसे कुछ करता है, समझदार लोग उसकी उन्मत्त चेष्टाको पहिचान सकते हैं। ऐसे ही ये अज्ञानीजन स्वरूपसे अनभिज्ञ कहीं घरको अपना मानकर, समाजको अपना मानकर देशको अपना समझकर उसके अनुकूल चेष्टाकरें उतारू रहते हैं। इन चेष्टावोंमें, इन विकल्पोंमें इस ज्ञानानन्दस्वभावी निज परमात्माका कैसा घात हो रहा है इसकी इसे फिक्र नहीं है। कैसे फिक्र हो आखिर अपने आपको समझा भी नहीं और न यह जाना है कि मुझ पर कोई विडम्बना है। इस उन्मत्त चेष्टाको ये जगके वासी जगके रुचिया लोग कैसे जाने, वे तो प्रशंसा ही करेंगे।

मायाद्वारा मायाका मायावाद— यह सारा जगत् मायामय है। यहां जितने भी पुरुष हैं और अन्य-अन्य पर्यायें हैं वे सब मायास्वरूप हैं, परमार्थरूप नहीं हैं, ये मायामय पुरुष यहां एक दूसरेकी प्रशंसा कर रहे हैं।

और फूले नहीं समाते हैं और वे अपने को कृतार्थ समझ लेते हैं। है जैसे एक उक्ति है—'उष्ट्राणां विवाहेषु गीत गायन्ति गर्दभा'। परस्परं प्रशसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः।' ऊँटोंका हो रहा था कहीं विवाह, सो अब विवाहके समय कोई गाने वाले भी तो चाहियें। सो बड़ी खोज करते-करते गीत गाने वाले मिले गधे। सो गधे लोग गीत गाते हैं—अहो, कितना सुन्दर रूप है ऊँटोंका ? अब ऊँटोंका रूप कहीं सुन्दर होता है ? गर्दन टेढ़ी, पीठ टेढी, सब वक्र अग हैं। जिनके मुखकी आकृति भी प्रायः सब जानवरोंसे विचित्र है, लेकिन गधे लोग गा रहे हैं कि कितना सुन्दर रूप है ? तो ऊँटोंकी ओरसे क्या जबाब मिल रहा है कि ओह ! गधोंका कितना सुन्दर राग है ? गधोंका राग किसीने गाते सुना है ? शायद कोई पशु, पक्षी, मनुष्य भी ऐसा नहीं गा सकते कि हवा बाहर निकाले तब भी राग और हवा भीतर ले तब भी राग। मनुष्य गाते समय सांस लेंगे तो उन्हे रुकना पडेगा, फिर गाना गायेंगे पर इन गधोंको रुकनेका काम नहीं है। हवा निकालेंगे तो आवाज, हवा भीतर खीचेंगे तो आवाज। तो जैसे गधे और ऊँट आपसमें एक दूसरेकी प्रशंसा करके परस्परमे राजी हो जाते हैं ऐसे ही ये जगतके प्राणी एक मोही दूसरे मोहीकी प्रशंसा करके परस्परमे राजी होते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि यह राजी हो जाना अपने आपके प्रभुपर कितना बड़ा अन्याय है ?

सबका स्वतन्त्र परिणमन— अज्ञानी जन कीर्तिको गाने वाले, प्रशंसा करने वाले अथवा मनके अनुकूल चलने वाले या इन्द्रियके विषयों मे साधक होने वाले लोगोंको प्रिय मानते हैं। मित्र मानते हैं, बधु समझते हैं और जो मनके प्रतिकूल चल रहे हों, इन्द्रियके विषयोंके साधनोंमे बाधक हो रहे हों उन्हें ये शत्रु मानते हैं। यह सब अज्ञानका स्वप्न है। वास्तवमें कोई पुरुष न मेरे मनके अनुकूल चलता है और न प्रतिकूल चलता है। वह तो चलता है जैसी उसकी योग्यता है। जैसा उसका वातावरण है उसके अनुकूल उसका परिणमन हो रहा है। वह न तो मेरे प्रतिकूल है और न मेरे अनुकूल है। मैं इच्छावान् हू सो जैसी इच्छा रखता हू उसके अनुकूल मुझे जो जंचा तो मैं अपनी ओर से कह सकूँगा कि यह अनुकूल परिणमन है अथवा मेरी इच्छाके विरुद्ध बना तो मैं ही अपनी ओरसे कह सकूँगा कि मेरे प्रतिकूल परिणमन है। पदार्थ तो जैसे है वैसे हैं, जैसे परिणमते हैं सो परिणमते हैं।

अपनी वेदनाका इलाजरूप परिणमन— कालिदासके जमानेमें एक राजाने अपनी लड़कीको ऐसा बर ढूँढना चाहा कि जो हमारी लड़कीसे

भी अधिक चतुर हो और शास्त्रार्थमें मेरी लड़की को हरादे, जीत ले। पंडित लोग बडे परेशान हो गए। पंडितोंने आपसमें सलाह की कि कोई महाबुद्धू वर ढूंढ़े और चकमा देकर उसकी शादी करवा दे तो राजाको भी पता पडेगा और राजाकी लड़की को भी पता पडेगा। सो ढूंढा महा बुद्धूको। तो यह जो कालिदास जी बडे कवि हुए हैं वे कुमार अवस्थामें एक बार एक पेड़ पर चढे हुए शाखाके अग्र भाग पर बैठे हुए कुल्हाड़ीसे शाखाको काट रहे थे। अब बतलावो कि वह शाखा कटेगी तो वह गिरेगा कि नहीं ? वह तो गिर ही जायेगा। तो जो पंडितोंने ऐसा हाल देखा तो सोचा कि इससे अधिक बुद्धू और कौन मिलेगा ? सो उसे पकड़कर चले, कहा कि तुम्हारी शादी राजपुत्रीसे करायेंगे, पर एक बात है कि तुम मौन रहना, बोलना कुछ नहीं। और तुम्हें कुछ बताना हो तो हाथसे इशारे करना। उसे मौनव्रत दिला दिया।

अपनी अपनी समझका भाव और प्रवर्तन— अब वे कुछ पंडित कालिदासके साथ पहुंचे सभामें, तो कहा— महाराज ये बहुत ऊँचे विद्वान् आए हैं। राजाने कहा ठीक, शास्त्रार्थ होने दो तो पंडितोंने कहा कि शास्त्रार्थ तो होगा, पर इस विद्वान्का मौन व्रत है, इसलिए संकेतमें शास्त्रार्थ कर लेंगे पर वचन बोलकर नहीं। अच्छा यों ही सही। तो कहा कि पहिले लड़की कोई प्रश्न रक्खें, तो लड़की ने एक अंगुली उठायी। वह भी संकेतमें शास्त्रार्थ करने लगा। तो लड़कीका यह भाव था कि एक ब्रह्म है, भाव तो यह था और कालिदासने यह जाना कि यह लड़की कह रही है कि मैं तेरी एक आंख फोड़ दूगी। तो उसने जोरसे दो अंगुली उठा दी, जिसका भाव था कि मैं तेरी दोनों आखें फोड़ दूंगा। पंडितोंने उसका अर्थ लगाया कि यह कन्या कह रही है कि एक ब्रह्म है तो हमारे ये महापंडित जी यह बतला रहे हैं कि एक ब्रह्म ही नहीं है साथमें एक माया भी लगी है। तो इस विश्वमें ब्रह्म और माया दो का विस्तार है। लो, लड़की हार गयी। पंडितोंने कहा दूसरा प्रश्न करो। सो लड़कीने पांच अंगुलियां उठा कर दिखाई। लड़कीका भाव था कि दुनिया पंचभूतमयी है। कालिदास ने समझा कि यह लड़की कहती है कि मै तमाचा मार दूगी, सो कालिदास ने मुक्का बांधकर उठाया। उसका भाव था कि मैं मुक्के से तेरी खबर लूंगा। पंडितोंने अर्थ लगाया कि लड़की यह कह रही है कि यह सारा विश्व पंचभूतमय है' तो हमारे महापंडित जी यह जवाब दे रहे हैं कि वह पंचभूत तो है मगर वे सबके सब पदार्थ एक ब्रह्म द्वारा अधिष्ठित है। लो, लड़की हार गयी। विवाह हो गया। फिर आगेकी कथा ऐसी अच्छी है कि

कैसे कालिदासको बोध हुआ और कैसे वे पण्डित बने। यहां प्रयोजन यह बतानेका है कि सब अपने अपने भावोंके अनुसार परिणम रहे हैं और अपनी योग्यतानुसार भाव समझ रहे हैं।

तथ्यके अपरिज्ञानमें विसंवाद— भैया! समाजमें गोष्ठियोंमें किसी भी जगह झगड़े क्यों हो जाते हैं? कहने वाले कहते हैं किसी दृष्टिसे और सुनने वाले सुनते हैं अपनी जुदी दृष्टिसे। तो वहां विवाद होना सम्भव ही है। कोशिश यह होनी चाहिए कि हम कहने वालेके दृष्टिकोणको परख कर अपने आपका भी आशय उसी दृष्टिका बनाएँ उसकी बात समझनेके लिए तो उसका हृदय हम समझ सकते हैं। यदि वह कहता है अपनी दृष्टिसे और हम सुनेंगे अपनी दृष्टिसे तो वहां विवाद हो जायगा। इस लोकमें जो मेरे प्रति कुछ भी चेष्टा करते हैं उसको इस रूपमें निहारें कि यह बेचारा अपने कषाय भावके अनुसार अपनी वेदना शांत करनेके लिए अपने मन, वचन, कायकी चेष्टा कर रहा है, मुझको कुछ भी नहीं कह सकता है, न कह रहा है। कोई नाम लेकर भी मुझे गालियां दे तो भी वह मुझे कुछ नहीं कह रहा है किन्तु अपनी योग्यताके अनुसार केवल वह अपना परिणमन कर रहा है। यह एक तथ्यकी बात है और पूर्ण सत्य है, पर हम इस तरहसे नहीं निरखना चाहते दूसरोंको, इस कारण व्यर्थ ही दुःखी हो रहे हैं।

कल्पनाका भयंकर हौवा— इस जीवने कुछ तो दुःखका बोझ उठाया है आपत्तिके कारण और कुछ क्या, अधिकांश, दुःखका बोझ उठाते हैं अपने मनचलेपनके ऊधमसे, व्यर्थके भ्रमसे। अपने २४ घंटेके जीवनमें ही देखलो लोग किस किस बात पर दुःख मानते हैं और वे बातें सचमुचमें आपत्तिरूपमें हैं या व्यर्थमें इसकी कल्पना बनाकर एक हौवा खड़ा किया है। हौवा जानते हो किसे कहते हैं? क्या किसीने हौवा देखा है? कहते सब हैं पर क्या कोई बता सकता है कि हौवाके कितने हाथ पैर होते हैं? कैसा होता है? अरे! उस मांको भी इसका पता न होगा कि वह हौवा कैसा होता है? जो मां अपने बच्चेको हौवासे डरवाती है। क्या वह मां बता सकती है कि वह हौवा क्या खाया करता है? अरे! उस हौवाको क्या बताया जाय? है कुछ नहीं पर कल्पनामें एक हौवा बना रक्खा है। ऐसे ही हमारे जीवनमें जो रात दिन संकट आते हैं वे संकट हौवाकी तरह कल्पनामें कुछ सोचनेसे आ जाते हैं। जैसे कोई गानेकी कला जानता हो और दूसरा कोई बेसुरे रागसे गाये तो उसके चित्तमें बड़ा क्लेश पहुंचता है। कोई शुद्ध संस्कृतका पाठी हो और कोई मन्दिरमें

आकर, अशुद्ध संस्कृत या भक्तामर काव्य बोलने लगे तो उसको सुनकर ठेस पहुंचती है। खैर, यह तो गलत बात देखकर ठेस पहुंची पर किसीको तो सही बात देखकर भी ठेस पहुंचती है। चोरोंको उजाला देखकर ठेस पहुंचती है। कोई साहूकार जग रहा हो तो उस पर उस चोरको रोष आता है, और कितनी ही बातें तो ऐसी जबरदस्त बना लेते हैं कि जिनको न सोचे तो क्या हर्ज था पर सोचे बिना रह नहीं सकते।

परका अन्यमें अनधिकार— यह सारा जगत् मेरा कुछ नहीं कर रहा है, वह अपनी वेदनाको शान्त करनेके लिए अपने अनुकूल अपना परिणमन कर रहा है। मेरेमें परिणमनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे मैं साधक बाधक जानकर अपनी ही ओरसे अपनी ही कल्पनामें शत्रु और मित्र बना लेता हूं। किसे बनाएं मित्र ? गुजारा करना और बात है, चाहे वह घरका गुजारा हो, जीवनका गुजारा हो, धर्मपालनका गुजारा हो, जिस गुजारेमें यह साधक मालूम पड़ता है भले ही उनसे कुछ नाता चलता है किन्तु किसे बनाएँ मित्र ? कौन कह सकता है कि हम तुम्हारे साथी रहेंगे ? रह जाय कोई साथी तो उसमें मेरा उदय कारण है। कौन कह सकता है कि घबड़ावो मत, हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे मरने पर हम साथ चलेंगे। अरे ! जीवनमें भी तो साथ रह सकनेका कोई दावा नहीं कर सकता। भले ही जीवन तक साथी रह जाय, पर दावा नहीं कर सकता कि हम तुम्हारे जीवन भरके साथी ही हैं।

वायदेकी स्वपन— अरे ! जिसने भावर पड़ते समय स्त्रीसे वायदा किया था, साथ-साथ वचनोंसे दोनों बन्ध गये थे, मोह हट जाने पर वह वायदा टूट जाता है, विरक्त हो जाता है, आत्मध्यानके पथ पर चलने लगता है। कौन निभा सकता है वायदेको ? यद्यपि विश्वासमें ऐसा है कि हमारा अमुक आदमीसे जीवन भर भी कोई मनमुटाव हो ही नहीं सकता। हम आपके साथ ही रहेंगे और सम्भव है प्रायः कि जीवन भर मनमुटाव न हो सके, किन्तु दावा कुछ नहीं किया जा सकता। क्यासे क्या परिणति हो ? श्री राम और सीताका एक दूसरेसे क्या कम स्नेह था, पर राम क्या यह दावा कर सके कि सीताको कभी कष्टमें न रक्खूंगा ? अरे ! जरासी धोबिनकी बात सुन कर सीताको निकलवा दिया था, जङ्गलमें छुड़वा दिया था। क्या कोई सम्भावना कर सकता है, कर सकता था इस समय कि ऐसी भी बात हो सकती है। इस सारे जहानके समस्त जीव अपने अपने कषाय भावके अनुसार अपनी योग्यतासे परिणमन किया करते हैं। मेरा कोई मित्र नहीं, कोई शत्रु नहीं, कोई प्रिय नहीं, कोई विरोधी नहीं। ये सब

अपने आपके स्वरूपमें अपना परिणमन करते हैं।

ठलवाईगिरीका संकट— भैया ! यह बहुत बड़ा संकट है कि कोई मेरा विरोधी तो है नहीं, पर मैं अपनी कल्पनासे दूसरोंको विरोधी मान बैठता हूं, यही सबसे बड़ा संकट है, अज्ञान अंधेरा है। कोई मेरा मित्र तो है नहीं, हो ही नहीं सकता। कोई अपने प्रदेशोंसे बाहर अपनी पर्याय फेंक कर मुझमें डाल न देगा। कोई खुश हो रहा है तो वह पूराका पूरा अकेला अपने आपमें खुश हो रहा है, मेरेको खुश करता हुआ खुश नहीं हो रहा है। मैं खुश हो जाऊँ. यह मेरे घरके विपरीत मेरे परिणमनकी बात है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप बताता ही नहीं है कि कोई दूसरे पुरुषको किसी रूप परिणमा दे। ज्ञान और क्या है ? ऐसे ही स्वतन्त्र स्वरूपकी दृष्टि आ जाना ही तो ज्ञान है। प्रत्येक जीव अन्तरङ्गमें ऐसे सहज स्वभावरूप है, जिस स्वभावकी दृष्टिमे सर्वजीव पूर्ण एक समान हैं। एक तो इस तत्त्वको दृष्टिमें बनाये रहना और दूसरे फिर इस तत्त्वको दृष्टिमे रखना कि सब जीव परिणमन भी करते हैं किन्तु वे सब अपने उपादानके अनुसार अपना अपना परिणमन किया करते हैं। वे मेरा कुछ नहीं करते हैं। एक अपने विविक्त परिणमनको निरखना, इन दो तथ्योंको अपनी दृष्टिमें बनाए रहना सर्वोत्कृष्ट वैभव है, जिस वैभवके बलसे यह जीव सर्वसंकटोंसे उस कालमें भी बाहर रहता है।

शत्रुत्व व मित्रत्वके अभावकी दृष्टि— अब देखिए यह लोक यदि मुझे देख रहा है, मुझे समझ रहा है, इस ज्ञानात्मक आत्मतत्त्वको ज्ञानरूपमें ही ज्ञान द्वारा जान रहा है तो वह स्वयं शान्त हो गया, स्वयं ज्ञानस्वरूप हो गया। अब उसमें कोई तरंग ही नहीं उठ सकती। अब यहां कौन मेरा शत्रु है ? कौन मेरा मित्र है ? वे तो ज्ञाता रहकर अपने आनन्द रसमें रहकर तृप्त हो रहे हैं। यह जीव, कोई प्राणी मुझको नहीं जानता है। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। इस मुझको जो नहीं समझ रहा है वह मेरा शत्रु मित्र कैसे हो सकता है ? मुझे तो यह लक्ष्यमें ही नहीं लेता है। तो दोनों ही प्रकारसे परके प्रति शत्रुता और मित्रताकी कल्पनासे रहित यह ज्ञानी सन्त आत्माकी आराधना कर रहा है।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थित.।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

मुमुक्षुवोंका कर्तव्य व पूर्वस्थितिका वर्णन— अब तक जो वर्णन किया गया है वह बहिरात्मापनका त्याग हो और अन्तरात्मामें व्यवस्थान बने, इस उद्देश्यसे वर्णन हुआ। इस वर्णनके पश्चात् अब इस श्लोकमें

यह कहा जा रहा है कि इस प्रकार मुमुक्षुजनों को बहिरात्माको छोड़कर अन्तरात्मामें व्यवस्थित होते हुए सर्वसंकल्पोंसे रहित इस परमात्माकी भावना करनी चाहिए। बहिरात्मा अवस्था कितनी घोर अज्ञान अंधेरीकी अवस्था है कि जहां ऐसी भ्रम बुद्धि और बहिर्मुखी वृत्ति हो जाती है कि अपने स्वरूपका तो रंच झुकाव भी नहीं रहता, भान भी नहीं रहता। जिस देहमें पहुंचता है उस ही देहको 'यह मैं हूं' ऐसा मानने लगता है और मैं देहसे रहित हूं उस देहके योग्य जो प्रवृत्तियां होती हैं वे बन जाती हैं। आज यह जीव मनुष्यभवमें है तो मनुष्यों जैसा आहार किया करता है। रोटी साग आदि बनाबना कर खाता है और मरकर हो जाय पशु तो वहा घास ही उसे प्रिय हो जाती है।

पर्यायबुद्धता— कोई स्त्रीके देहमें जीव है तो उसकी बोलचाल मैं जाती हू, मैं करती हूं ऐसी हो जाती है। कैसा अभ्यास हो जाता है ऐसा बोलनेका। कोई स्त्री यो नहीं बोलती है कि मैं जाता हूं, मै करता हूं, मै पढता हूं, और कोई पुरुष भी ऐसा न बोलता होगा कि मै जाती हूं, मै करती हूं, मै पढ़ती हूं। कैसा अभ्यास हो जाता है? एक कन्या जो खूब स्वच्छन्द खुले सिर फिरा करती है, विवाह होनेके बाद एक मिनटमे ही ऐसी कला आ जाती है, न उसे कोई सिखाने गया, न उसकी मां को ही सिखानेका मौका मिला, न सासने सिखा पाया, पर लुक छिपकर जाना, घूँघट करके चलना सिमिटकर चलना, ये सभी कलाएं अपने आप आ जाती हैं। तो यह जीव जैसा चित्तमें विकल्प करता है उसके अनुसार उसकी वृत्ति भी बन जाती है।

वहिरात्मावस्थाकीय भूलें— बहिरात्मा अवस्थामें मूल भूल यह हुई है कि इसने अधिष्ठित देहको 'यह मैं हूं' ऐसा माना व द्वितीय भूल यह हुई है कि परदेहको यह परजीव है, ऐसा माना है। फिर तीसरी भूल यह हुई है कि इन देह देहोके नातेसे पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक सम्बन्ध माना है, चौथी भूल यह हुई है कि धन वैभवको इसने अपनाया और बड़ी मूढता भरी चेष्टाएं कीं। आखिरी भूल यह है कि इसने अपना नाम चाहा; कीर्ति, प्रशंसा, पोजीशनकी चाह बनायी है। सब विडम्बनावोंसे त्रस्त यह जीव जब कभी गुरुप्रसादसे सत्संगमें ज्ञानाभ्यास द्वारा जान पाया कि और सर्वजीव सर्वपदार्थ स्वगुणपर्यायात्मक हैं और परिपूर्ण हैं। यहा किसी भी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो परकी ओरसे विकल्प हटा और ऐसी निर्विकल्प स्थितिके बलसे अपने आपमे विश्राम पाया और वहा जो आनन्दका अनुभव हुआ, ज्ञानप्रकाश हुआ,

उसके कारण इसने अन्तरात्मामें व्यवस्थित होनेकी स्थिति बना ली, अपने आपके स्वरूपको अनेक उपायोंसे देखा, साधा, इस मेरेका कौन दूसरा है, कौन सुख दुःखका साथी है, कौन मेरी परिणतिको कर सकने वाला है? जैसे यह मैं बाहरमें किसी दूसरेका कुछ नहीं किया करता हूं यों ही समस्त दूसरे मेरा कुछ भी नहीं किया करते हैं। ऐसा बोध बनता तो अपने आत्मामें यह व्यवस्थित हो लेता।

प्रबुद्धता— अब देहमें आत्मबुद्धि न रहनेसे यह ज्ञाता विदेह होनेके निकट जाने लगा। इसे अब उन वृत्तियोंमें पछतावा आने लगा जिन वृत्तियोंको यह हर्षपूर्वक ज्ञानसे पूर्व अपनाता था। विषयोंसे इसे वैराग्य आया, ज्ञानको संभालनेका बहुत बड़ा यत्न होने लगा। अब किसको सोचे, किसको बोले, क्या करे, सब कुछ असार दिखने लगा तथा यत्नपूर्वक मन, वचन, कायकी क्रियावोंको रोककर अपने आपमें अपने दर्शनका अवकाश पाने लगा, बारबार आत्मीय आनन्दका अनुभव लेने लगा ऐसा ज्ञानीसंत, इस कारण परमात्मतत्त्वकी ओर कार्यपरमात्मतत्त्वकी भावनामें रत रहने लगा।

परकी अविश्वास्यता— इस लोकमें मेरा कौन सहाय है, जिस पर हम पूर्ण भरोसा कर सकें कि अब कोई धोखा न होगा। जिन-जिनसे हित मान रक्खा हो, जिन जिनको अपना मान रक्खा हो उन सबके निकट जा जाकर उपयोग द्वारा इस प्रश्नका समाधान पायें कि कौन मेरा सहाय होगा? सभी जीव केवल अकेले ही अपने सुख और दुःखको भोगा करते हैं। जन्मता है तो अकेला, मरता है तो अकेला, पुण्य पाप करता है तो अकेला, संसारमें रुलता है तो अकेला, संसारमें विरक्त होता है तो अकेला और मुक्त होता है तो अकेला। दूसरा किसी दूसरेका साथी बन जाय यह तो वस्तुके स्वरूपमें ही नहीं है। जैसे बच्चोंमें आपसमें दोस्ती होना और दोस्ती मिटना यह घंटेमें १० बार हो जाता है। बीचकी अंगुलियां मिलायीं दोस्त बन गए और छिगुलीसे छिगुली मिलायी दोस्ती कट गयी। यहां भी जब कभी कोई विषयोंके साधनेमें साधक हुआ तो लो दोस्ती हो गयी और जब मनकी अभिलाषावोंमें बाधक हुआ तो लो दोस्ती कट गयी। किसका विश्वास किसका सहारा लिया जाय कि फिर हमें दूसरे विचार न बदलने पड़ें, न कोई कार्य-क्रम बने।

वाह रे समागम— इस लोकमें ३४३ घन राजू प्रमाणका विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है जिस क्षेत्रके सामने यह पूरा नगर अथवा यह पूरा देश या यह वर्तमानके भूगोलमें मानी हुई पूरी दुनिया यह सब इतने भी नहीं है

जितने कि समुद्रकी एक बूंद हो। इतनी भी गिनती नहीं है। समुद्रकी जितनी बूंदें हैं उनमें से एक बूंद जितने हिस्सेमें बैठे उतना भी हिस्सा दुनियाके क्षेत्रके मुकाबलेमे आजकी परिचित दुनिया नहीं है। फिर यहांके मरे कहीं गए, फिर क्या रहा समागम? जहां यह जीव पहुंचता है वहीं की सारी बातें करने लगता है। कौनसी जगह सारभूत है और कौनसा समागम सारभूत है। सुकौशलकी मां जिनका पुत्रसे इतना तीव्र स्नेह था कि उसने स्नेहके कारण अपने महलमे मुनियोंका प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया था कि कहीं साधुको देखकर अथवा इनके ही पिता मुनि हुए है वे ही आ गए तो उस रूपको देखकर कहीं यह पुत्र भी न विरक्त हो जाय? इतना तीव्र अनुराग था, और जब सुकौशल विरक्त हो गए तो मां को बड़ी वेदना हुई, हाय पुत्र भी चला गया। उस आर्तध्यानमे मरकर सुकौशलकी मां सिंहनी हुई और सुकौशलके विषादमें गुजरी थी, सो उस सुकौशल को दुश्मन मानकर ध्यानमे बैठे हुए सुकौशलको सिंहनीने पंजा मारा और मुखसे भक्षण किया। उनको उस समय केवलज्ञान हो गया, वह तो मुक्ति पधारे। पर देखो तो जो पहिले भवमें प्यारा पुत्र था, दूसरे भवमें उसी पर ही प्रहार किया उसकी ही मां ने सिंहनीके रूपमे।

ज्ञानीका साहस— यह आत्मा तो पकड़ा भी नहीं जाता, रोका भी नहीं जाता, इसमें कहां नाम खुदा है कि अमुक चेतन पदार्थ मेरा मित्र है या अमुक चेतन पदार्थ मेरा शत्रु है। भ्रम हो गया है सो नाना चेष्टाएँ की जा रही हैं। रातदिन मोहके प्रोग्राम- यह लल्ला यह लल्ली, इन्हें बुलावो, सत्कार सेवा करो, रात दिन मोह-मोहकी ही स्थिति गुजर रही है। भ्रम हुआ ना, इस कारण उसके ही अनुकूल चेष्टाएँ चल रही है। किसी भी समय यह मनुष्य एक मिनट को भी सबका ख्याल भुलाकर ये सब पर है- अपना उपयोग मैदान साफ करले कि यहां किसी भी परतत्त्वका विकल्प नहीं करना है, तो यह बडे हितकी बात है। ऐसी हिम्मत ज्ञानी पुरुषमे होती है। यह अशक्य बात नहीं है, की जाने वाली बात है। जिसके मोह नहीं रहा वह तत्त्वका यथार्थज्ञाता है और घरमे रहकर भी सारी व्यवस्था बनाता है तो भी जिस क्षण आत्महितके अर्थ आत्माको सुलझानेकी सावधानी बनाता है तो एक भी अणुमात्र उसके उपयोगमे नहीं ठहरता। यह स्थिति कुछ ही समयको होती है फिर अन्यकी स्थितिका विचार व प्रबन्ध कर लेता है। ठीक है, पर वह इस योग्य है कि वह जब चाहे तब अपने उपयोगको विशुद्ध बना ले।

शरण्य कर्तव्य— भैया! है क्या? यहां भी तो आप सब बिल्कुल

अकेले अकेले बैठे हैं। कोई लिपटा भी है क्या, कोई आपके साथमे पड़ा भी है क्या। बस आप अकेले बैठे हैं। इसमें ही अपने आपके उस अकेले स्वरूपकी दृष्टि बनाना है। कौनसी कठिनाई आती है? रही भीतरमें परके आकर्षणकी कठिनाई सो ज्ञानी सन्तने यह यथार्थ प्रकाश पा लिया कि प्रत्येक द्रव्य पूर्ण स्वतन्त्र है। किसी भी समय सर्वपदार्थोंका विकल्प दूर कर केवल आत्मदृष्टिका कार्य ज्ञानी गृहस्थ भी कर सकता है। इतना तो आप लोग देखते ही हैं कि कोई गृहस्थ बहुत अधिक फसा हुआ है, किसी को ममत्व कम है, कोई अधिक परवाह नहीं करता। तो जब ऐसा तारतम्य हम यहांके पुरुषोंमें देखते हैं तो क्या कोई ऐसा ज्ञानी है कि किसी क्षण चाहे तो सर्व परउपयोगोंसे हटकर केवल ज्ञानमात्र आनन्दघन निज कारणपरमात्मतत्त्वकी अभेद उपासना कर सके। है, गृहस्थ भी है ज्ञानी सन्त जैसा।

ज्ञान कलाकी देन— भैया! सब कुछ ज्ञानकला पर निर्भर है। लोक सुखसे सुखी होना भी ज्ञानकी देन है और दुःख और विपदामे विषाद मानना भी ज्ञानकी ही एक परिणतिकी देन है। और सर्वप्रकारके क्षोभोंसे रहित होकर आत्मीय आनन्द अनुभवने की भी देन इस ज्ञानकी कला पर है। बड़े प्रेमसे भी हों, आजीविका भी ठीक हो और सर्वप्रकारसे साधनसम्पन्नतामे रहते हों, फिर भी कल्पनामें कुछ कुछ बातें तृष्णाकी विचार कर यह जीव अपनेको दुःखी अनुभवने लगता है। जिस मनुष्यके पास जितना जो कुछ वैभव है उस वैभवसे अधिक वैभवके प्रति तृष्णा रखनेसे उस वैभवका भी सुख भोग नहीं पाता। जब चित्त इससे अधिक सम्पत्तिके लाभमें लगा है तो पाई हुई सम्पदाका आनन्द कहा रहा? तो वर्तमान मिले हुए समागमका भी लाभ खो देता है यह मोही तृष्णावान् पुरुष।

वर्तमान स्थितिमें ही धर्मपालनका विवेक— कोई सोचे एक धार्मिक प्रोग्राम बनानेकी धुनमें कि मैं इतना वैभव और बना लू, इतना और इकट्ठा कर लूं फिर तो आरामसे खूब धर्म साधन करेंगे। ऐसी दृष्टि जिनकी वर्तमानमें है तृष्णा वाली दृष्टि, उससे कहां यह आशा की जा सकती है कि उतना भी मिल जाय जितना कि उसने संकल्प किया है तब भी तृष्णा से मुक्ति हो जाय। यह आशा नहीं की जा सकती है। धर्मपालनका तो यह हिसाब है। इस ही समय कैसी भी स्थिति हो उस ही स्थितिमें विभाग बटबारा बनाकर, उसमे ही गुजारेका साधन बनाकर धर्मपालनमें लग जाइए। धर्मका पालन पैसे द्वारा साध्य नहीं है। वह तो परिणाम द्वारा

साध्य है, किन्तु हां, इतना अवश्य है कि जिनके पास वैभव है, संचय करते हैं वे यह सोचें कि धर्म तो बातोंसे मिलता है, दमड़ी खर्च करने की क्या जरूरत है ? यह धन तो ज्योंका त्यों बना रहे। दानमें, भोगमें उपकारमें काहेको खर्च करें, धर्म तो भावोंसे बनता है। तो जिसको ऐसी तृष्णाका परिणाम लगा हुआ है वह पुरुष कैसे धर्मपालन कर सकेगा ? वर्तमान स्थितिमें ही सुलझेरा करना है।

ज्ञातृत्वमें क्लेशका क्षय— यह ज्ञानप्रकाश जो अनाकुलताका साथी है, जब उपयोगगत होता है तो इसके रागादिक क्षीण हो जाते हैं, विडम्बनाएं समाप्त हो जाती हैं। ऐसे परमशरणभूत परमपिता एकमात्र आत्मसर्वस्व निज चैतन्यस्वभावका शरण छोड़कर अन्यत्र कहां शरणमें जाते हो ? जैसे फुटबालको कहीं शरण नहीं है, जिसके पास जायगी वहीसे लात खायगी। फुटबाल तो लात खानेके लिए ही बनी है। नाम है उसका फुटसे धक्का लगे ऐसा बाल। तो जैसे फुटबाल धक्के ही खाती रहती है, कोई शरणमें नहीं रखता, यों ही यह मुग्ध जीव व्यामोही जीव जगह जगह धक्के ही खाता रहता है। इसे कोई शरण नहीं रख सकता है, और धक्का क्या खाता है, खुद ही अज्ञानी बनकर परको शरण मानता है और है नहीं वह शरण, इसलिए धक्का समझता है, नहीं तो धक्का काहे का ? ज्ञाता द्रष्टा रहे, फिर काहे का क्लेश ?

बड़ा अजायबघर— भैया ! यह संसार अजायबघर है। अजायबघरमें दर्शकको देखने भरकी इजाजत है, किसी चीजको छूनेकी और लेने की इजाजत नहीं है। यदि वह छुवेगा, लेगा तो वह बन्धनमें पडेगा, गिरफ्तार होगा। यों ही यहांका सारा यह समागम केवल जाननेके लिए है। स्नेह करेगा तो वह बन्धनमे पडेगा और खुद दुःखी रहा करेगा। यों अपने हितका सब कुछ निर्णय करके, अब बहिरात्मापनको त्यागकर, अन्तरात्मामें व्यवस्थित होकर उस परमात्माकी भावना करो जो परमात्मतत्त्व सर्वसंकल्पोंसे अतीत है। उस निर्विकल्प कारणसमयसार और कार्यसमयसारकी भावना बनावो।

परमात्मप्रदीप योग— ग्रन्थके प्रारम्भमे पूर्व श्लोकमे यह कहा था कि आत्मा तीन प्रकारके हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इसमें मध्यकी बात तो उपाय है और पूर्वकी बात हेय है, और उत्तरकी बात याने परमात्माकी बात उपादेय है। उस ही के समर्थनमे प्रायोजनिक संक्षिप्त बहिरात्मत्व व अन्तरात्मत्वका वर्णन करके यहा बताया जा रहा है कि अन्तरात्मा बनकर बहिर्मुखत्वको छोड़ दो और अखण्ड निराकुल

परमात्मतत्त्वकी भावना करो। इस परमात्मतत्त्वकी ही भावनाके प्रसादसे आत्माका हित है और किसी भी उपायसे आत्माका हित नहीं है। अब ममताको त्यागकर, परतत्त्वोंमें अहमबुद्धिको त्यागकर ज्ञानमात्र निज स्वरूपका ज्ञान द्वारा अनुभव करें जिससे यह परमात्मतत्त्व प्रकट हो और सदाके लिए सारे संकट दूर हो जायें।

समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

समाप्त

श्री दिगम्बर जैन प्रेस सोसायटी, सदर मेरठमें मुद्रित